॥ ओ३म् ॥

वैदिक यज्ञों का स्वरूप

(पशु-बलि के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ० कृष्णलाल

प्रकाशक

ामगोपाल शास्त्री स्मारक समिति

ार्यसमाज मन्दिर करौलबाग, नई दिल्ली

वैदिक यज्ञों का स्वरूप

वैदिक यज्ञों का स्वरूप

(पशु-बलि के विशेष सन्दर्भ में)

लेखक

डॉ० कृष्णलाल

एम०ए०, पी-एच०डी०

आचार्य संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रकाशक

वैद्य रामगोपाल शास्त्री स्मारक समिति

आर्यसमाज करौलबाग, नई दिल्ली-५

प्रकाशक :
वैद्य रामगोपाल शास्त्री स्मारक समिति
आर्यसमाज करौलवाग,
नई दिल्ली-५

संस्करण : प्रथम, जून १९८९

मूल्य : १०.००

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स,
नवीन शाहदरा,
दिल्ली-११००३२.

भूमिका

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—"कतमो प्रजापतिरिति, यज्ञ इति। कतमो यज्ञ इति, पशुरिति।" अर्थात् प्रजापति क्या है? प्रजापति यज्ञ है। यज्ञ क्या है? पशु ही यज्ञ है। यहाँ प्रजापति को यज्ञ और यज्ञ को पशु कहा गया है। प्रजापति, यज्ञ और पशु—ये तीनों प्रजा का पालन करते हैं। वस्तुतः जो पदार्थ या शक्तियाँ प्रजा का पालन करती हैं, वे सब पशुपदवाच्य हैं। इसी आधार पर अग्नि, वायु और सूर्य को भी 'पशु' नाम से अभिहित किया है—

अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त, वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त, सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त।—यजुर्वेद २३।१७

वहीं (यजुः ३१/१५) मनुष्य को भी पशु कहा गया है—

देवा यद्यज्ञं तन्वाना अवध्नन् पुरुषं पशुम्।

यज्ञों में अनेक प्रकार के पशुओं की आवश्यकता होती थी। वेद में इन पशुओं का नाम ग्राम्य पशु है। इनमें गाय, भैंस, बकरी, घोड़ा और कुत्ता विशेष उल्लेखनीय हैं। यज्ञ में इन पशुओं का उपयोग होता है। इन यज्ञीय पशुओं में गाय का स्थान सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि यज्ञ की प्रधान वस्तु घी और अन्न, गाय और बैलों से ही प्राप्त होती है। बड़े-बड़े यज्ञों में ये पशु बड़ी संख्या में लाये जाते थे। जहाँ वे बाँधे जाते थे, वे स्तम्भ यूप कहलाते थे।

प्राचीन काल में एक विशेष यज्ञ होता था। कई वर्ष तक पानी न बरसने की अवस्था में जब पशु भूख-प्यास से मरने लगते थे तब किसान लोग स्पर्शयज्ञ करते थे। महाभारत (अनुशासनपर्व) में लिखा है—

यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः।
स्पर्शयज्ञं करिष्यामि विधिरेष सनातनः॥

अर्थात्—'यदि १२ वर्ष तक जल नहीं बरसेगा तो मैं स्पर्शयज्ञ करूँगा।' इस यज्ञ का अभिप्राय यह था कि लोग अपने पशुओं को छूकर छोड़ देते थे, मानो यह कहकर कि हम तुम्हारा पालन करने में असमर्थ हैं, अब तुम जहाँ चरने को मिले वहाँ चले जाओ। इसे आलम्भ अथवा पशुस्पर्श भी कहते थे। निरन्तर सूखा पड़ने पर अब भी ऐसा होता है। इससे स्पष्ट है कि आलम्भ का अर्थ मारना नहीं, स्पर्श करना है।

जिस प्रकार आलम्भ से पशु-हिंसा सूचित नहीं होती उसी प्रकार मधुपर्क से भी हिंसा सिद्ध नहीं होती। 'मधुपर्क दधिमधुघृतमपिहितं कांस्ये कांस्येन'—अर्थात् 'कांसे के पात्र में दही, शहद और घृत को समुचित मात्रा में (तीन भाग दही और एक-एक भाग मधु और घृत) मिलाने से मधुपर्क बनता है।' इसमें किसी भी रूप में हिंसा का संकेत तक नहीं है। अब रही 'गोघ्नोऽतिथिः' की बात। कहा जाता है कि अतिथि के लिए गौ मारी जाती थी। परन्तु पाणिनि के 'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने' इस सूत्र से सहज ही इस शंका का समाधान हो जाता है। 'हन' धातु के दो अर्थ होते हैं—हिंसा और गति (हन हिंसागत्योः—धातुपाठ) और 'गतेस्त्रयोऽर्थाः' गति के तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। 'गोघ्न' पद का प्रयोग उस अतिथि के लिए किया जाता है जिसके सत्कारार्थ गौ प्रदान की जाती है। आर्यों के लिए तो सर्वश्रेष्ठ पौष्टिक पदार्थ मिश्री से युक्त घी और दूध रहे हैं। 'चरक संहिता' में लिखा है—

> द्विजातीनामोषधी सिद्धं घृतं गांसविवृद्धये।
> सितायुक्तं प्रदातव्यं गव्येन पयसा भृशम्॥

मांसाहारी लोग वेदों के द्व्यर्थक शब्दों के मनमाने अर्थ करके यज्ञों में पशुबलि का विधान कर मांसाहार करने लगे। भागवतपुराण में लिखा है—

> तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः।
> याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां मतयस्तथा।
> यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि॥—११।१४, ६

अर्थात्—ब्रह्मा के पुत्र देव, दानव और गुह्यक आदिकों ने अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार वेद के अर्थ किये।

यज्ञ के प्रकरण में जहाँ कहीं पशु और उसके पर्यायवाची शब्द आये हैं, उन सब का तात्पर्य अन्न से है, चतुष्पाद पशु से नहीं, क्योंकि वेद में अन्नमय पशु के यज्ञ का ही विधान है। द्व्यर्थक शब्दों से जो भ्रम हो सकता है, उसका निराकरण वेदों तथा अन्य ग्रन्थों ने स्वयं कर दिया है। अथर्ववेद (१८।४।३२) में लिखा है—'धाना धेनुरभवद्वत्सो ऽस्यास्तिलोऽभवत्'। अर्थात् 'धान ही धेनु हैं और तिल उसके बछड़े हैं।' इसी प्रकार मांस आदि शब्दों के विषय में अथर्ववेद में लिखा है—

> अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः।
> श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम्॥—११।३।५, ७

अर्थात् 'चावल के कण अश्व हैं, चावल गौ हैं, भूसी मशक है।' तथा 'चावलों का श्याम भाग मांस और लाल भाग रुधिर है।'

महाभारत में निर्णायक घोषणा है—

श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयो पशुः।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ।।—अनु० ११५।४९

सुरा मत्स्या मधुमांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्त्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्।—शा० २६५।१०

अर्थात्—'पूर्वकाल में याज्ञिक लोग अन्नमय पशु से ही यज्ञ करते थे। मद्य-मांसादि का प्रचार तो धूर्तों ने किया है। वेदों में यह कहीं नहीं है।'

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाभारत-काल में और उससे कुछ पहले ही यज्ञों में पशुबलि होने लगी थी। महर्षि दयानन्द के अनुसार, "बिगाड़ के मूल महाभारत-युद्ध से पूर्व एक सहस्त्र वर्ष से प्रवृत्त हुए थे। यद्यपि उस समय में ऋषि-मुनि भी थे, तथापि कुछ-कुछ आलस्य-प्रमाद, ईर्ष्या-द्वेष के अंकुर उगे थे जो बढ़ते-बढ़ते वृद्ध हो गये (बढ़ गये)।" इसी के परिणामस्वरूप कालान्तर में जैन और बौद्ध मतों का उदय हुआ और वेदों के प्रति उपेक्षा, घृणा और विरोध की प्रवृत्ति बढ़ने लगी।

वैदिक विचारधारा में यज्ञों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। कालान्तर में यज्ञों का प्राधान्य हो जाने से वेदमन्त्रों का विनियोग यज्ञों में ही होने लगा और जैसे-जैसे यज्ञों का महत्त्व बढ़ता गया, वैसे-वैसे वेदों का आध्यात्मिक और आधिभौतिक प्रक्रियानुसारी अर्थ गौण होता गया और याज्ञिक प्रक्रियानुसारी अर्थों में ही उनका पर्यावसान कर दिया। वेदमन्त्रों के केवल अधियाज्ञिक अर्थ किये जाने का प्रत्यक्ष प्रहार आधिदैविक प्रक्रिया पर हुआ। प्राचीन काल में आधिदैविक प्रक्रिया के अनुसार वेद के जो वैज्ञानिक अर्थ किये जाते थे, वे धीरे-धीरे लुप्त होते गये। परिणामतः अत्युत्कृष्ट वैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रतिपादक मन्त्र चारण-भाटों के स्तुतिवचन बनकर रह गये और इस प्रकार वेद का सर्वज्ञानमयत्व नष्ट हो गया। वेद के नाम पर पशुबलि और नरबलि दी जाने लगी।

सायण का मुख्य उद्देश्य अपने आश्रयदाता हरिहर बुक्क द्वारा संस्थापित विजयनगरम् राज्य की प्रतिष्ठा बढ़ाना था। उसके लिए उसने और तत्पश्चात् उवट और महीधर ने वेदों को अपौरुषेय मानते हुए भी उनमें पशुहिंसा आदि अनेक अनर्थकारी बातों को स्वीकार कर लिया। अथर्ववेद के नवम काण्ड के चतुर्थ सूक्त में गौओं से सन्तानोत्पादन के लिए नियुक्त किये जानेवाले वृषभ की महिमा का वर्णन है। वहाँ काव्यात्मक आलंकारिक शैली में यह उपदेश दिया गया है कि यदि किसी के घर में बहुत उत्तम कोटि का बछड़ा उत्पन्न हो तो उसे नगर की गौओं से सन्तान उत्पन्न करने के लिए दान कर देना चाहिए या उसे राज्य को सौंप देना चाहिए। वेद की दृष्टि में यह बड़ा पवित्र कार्य है, अतः विशेष यज्ञ का आयोजन करके ऐसे

वृषभ को समाज को सौंप देना चाहिए। २४ मन्त्रों के इस सूक्त में वृषभ के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह बहुत दूध देने वाली नस्ल की गौ की सन्तान हो (पयस्वान्) जिससे उससे उत्पन्न बछड़ियाँ भी बहुत दूध देनेवाली हों, बड़ा तेजस्वी हो (त्वेषः), सहस्रों सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ हो (साहस्रः), पुंस्त्वयुक्त हो (पुमान्) और पूर्ण जवान हो (स्थविरः)। वह उत्तम बछड़े-बछड़ियों का पिता (पिता वत्सानां) और गौओं का पति (पतिरघ्न्यानां) हो। ऐसे वृषभ से बलवान् और सुन्दर बच्चे पैदा हों (त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम्) और उसके कारण अमृततुल्य दूध और घी से भरे घड़े प्राप्त हों (सोमेन पूर्णकलशं बिभर्षि, आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः)। यह सब तभी होगा जब वह सन्तानरूपी तन्तु को आगे फैला सकेगा (तन्तुमातान्)।

सायणाचार्य आदि पौराणिक भाष्यकारों ने इतने उपयोगी सूक्त को बैल को मारकर उसके मांस से यज्ञ करने में लगाया है। सायण ने इस सूक्त के भाष्य की उत्थानिका में लिखा है--

"ब्राह्मणो वृषभं हत्वा तन्मांसं भिन्नभिन्नदेवताभ्यो जुहोति। तत्र वृषभस्य प्रशंसा तदङ्गानां च कतमानि कतमदेवेभ्यः प्रियाणि भवन्ति तद्विवेचनम्। वृषभ-बलिहवनस्य महत्त्वं च वर्ण्यते। तदुत्पन्नं श्रेयश्च स्तूयते।"

अर्थात्--ब्राह्मण वृषभ को मारकर उसके मांस से भिन्न-भिन्न देवताओं के लिए आहुति देता है। इसमें वृषभ की प्रशंसा और उसके अंगों में से कौन-कौन अंग किस-किस देवता को प्रिय है--इसका विवेचन किया है और वृषभ की बलि देकर हवन करने के महत्त्व का और उससे प्राप्त होनेवाले श्रेय का वर्णन किया है।

इन भाष्यकारों ने इतना भी नहीं सोचा कि सूक्त में किया गया बैल का वर्णन यज्ञ में मारकर जला दिये गये बैल से कैसे मेल खा सकता है और मरे हुए बैल से बछड़े-बछड़ियाँ उत्पन्न होकर कैसे घी-दूध से भरे घड़े प्रदान कर सकती हैं? वेद में किये गये गोवध-निषेध और पशुयज्ञ-निषेध के रहते अथर्ववेद के इस सूक्त का अर्थ बैल को मारकर उसके मांस से यज्ञ में आहुतियाँ देने विषयक नहीं किया जा सकता।

वेदार्थ के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न करके संसार को वेद से विमुख करने में सबसे बड़ा हाथ सायण का रहा है। वस्तुतः यज्ञ-विषयक मिथ्या धारणा ने सायण को वेदमन्त्रों के यथार्थ तक पहुँचने ही नहीं दिया। विदेशी विद्वानों को वेदविषय में सायण-भाष्य का ही आश्रय मिला। उनका उद्देश्य ही भारतीयों में अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता तथा साहित्य के प्रति अश्रद्धा ही नहीं, घृणा पैदा करना था। इस दृष्टि से उन्हें सायण का भाष्य अपने अनुकूल जान पड़ा। सायण के भाष्य ने सबकी आँखों पर पट्टी बाँध दी और राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो जाने पर भी पाश्चात्य एवं तदनुयायी भारतीय विद्वानों की आँखों पर वह पट्टी अभी तक ज्यों-

की-त्यों बँधी है। पढ़े-लिखे प्रायः सभी लोग यही मानते हैं कि वैदिक काल में यज्ञों में पशुबलि सामान्य बात थी। उत्तरप्रदेश के तत्कालीन शिक्षामन्त्री एवं प्रसिद्ध विद्वान् डॉक्टर सम्पूर्णानन्द ने मुझे अपने १५ फरवरी १९५१ के पत्र में लिखा—"अनेक प्रमाणों के आधार पर मैं ऐसा मानता हूँ कि वैदिक काल में मद्य-मांसादि का व्यवहार होता था। पशुबलि भी होती थी।" यही बात मुझे २ फरवरी १९५० के पत्र में भारतीय विद्याभवन के संस्थापक श्री कन्हैयालाल मुंशी ने लिखी थी। श्री सम्पूर्णानन्द के कथन का आधार उनका अपना अध्ययन तथा चिन्तन था, जबकि श्री मुंशी ने जो कुछ लिखा वह पाश्चात्य विद्वानों के आधार पर लिखा। पुरी के जगद्-गुरु शंकराचार्य श्री निरंजनदेव तीर्थ ने अपने पत्रों दिनांक २ तथा १८ फरवरी, १९७९ के अनुसार सायणाचार्य के मत को ही शास्त्र-सम्मत माना। काँची काम-कोटिपीठाधीश शंकराचार्य श्री जयेन्द्र सरस्वती ने एक भेंट में हमें बताया कि शास्त्रों में जहाँ कहीं भी गोवध का निषेध किया है वह गोमांस न खाने के उद्देश्य से किया है, यज्ञ के निमित्त गोहत्या करने का स्पष्ट विधान है; शास्त्रों में ऐसा गौ के हितार्थ किया गया है, क्योंकि यज्ञ में आहुति के निमित्त मारी गई गौ को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वेदों में गौ के लिए 'अघ्न्या' तथा यज्ञ के लिए 'अध्वर' शब्द का प्रयोग किये जाने और गोहत्या का सर्वथा निषेध करनेवाले अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये जाने पर भी वे अपनी बात पर अडिग रहे। स्पष्ट है कि ये लोग आज भी वहीं खड़े हैं जहाँ सैकड़ों वर्ष पूर्व उन्हें सायणाचार्य आदि ने खड़ा कर दिया था।

१३ फरवरी, १९७९ को दिल्ली में Indian History and Culture Society का वार्षिक अधिवेशन हुआ। उसमें सभी ने एक स्वर में स्वीकार किया —"Beef-eating was a part of Socio-Economic life of the people in ancient India. Why should it then not be mentioned in history books?" अर्थात् 'प्राचीन भारत में गोमांस खाना लोगों के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन का अंग था। तब इतिहास की पुस्तकों में वैसा क्यों न लिखा जाए?' जब National Council of Research and Training द्वारा भारतीय स्कूलों की छठी कक्षा में निर्धारित इतिहास की पुस्तक 'प्राचीन भारत' की ओर केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय का ध्यान दिलाया गया तो मन्त्रालय में संयुक्त सचिव श्री वाई० एन० चतुर्वेदी ने लिखा—"The book to which you have referred has been written by an eminent historian under the auspices of an Editorial Board comprising of eminent historians like Prof. Nurul Hasan, Dr. S. Gopal, Prof. Satish Chandra and Dr. Romila Thapar who is also the author of the book. There is general unanimity among historians and archaeologists about the historicity in regard to beef-eating in Vedic Age. There are a number of references to this in literature on Ancient India like

'Vedic Index of Names and Subjects' by A. A. Macdonnel and A. B. Keith, 'Indo-Aryan Vol. I' by R. L. Mitra, P. V. Kane's monumental work entitled 'History of Dharmashastra' and also archaeological evidence as provided by eminent archaeologists like H. D. Sankalia. The objection does not have validity on historical grounds."—D. O. No. F. 11-8/88—Sch. 4, dated 8 June, 1988.

इस सन्दर्भ में मैं उनसे २४ नवम्बर, १९८८ को मिला। मेरी बातों का उनके पास उत्तर नहीं था, सिवा इसके 'आपकी बात ठीक है, But I am not the government, आप अपने मत की पुष्टि में इतिहास के प्रामाणिक विद्वानों से ग्रन्थ लिखवाएँ।'

इस पृष्ठभूमि में देखने पर प्रस्तुत ग्रन्थ का महत्त्व सहज ही समझ में आ जाता है। डॉक्टर कृष्णलालजी ने प्रकृत विषय पर व्यापक अध्ययन एवं गम्भीर चिन्तन के बाद लेखनी उठाई है। उसमें विस्तार भी है और गहराई भी। जो कुछ भी यहाँ लिखा है वह प्रमाण-पुरःसर भी है और तर्क-प्रतिष्ठित भी। इस विषय पर इतना विस्तृत विवेचन पहले देखने में नहीं आया। वर्तमान विषम परिस्थिति में इसका अधिक-से-अधिक प्रसार अपेक्षित है।

—विद्यानन्द सरस्वती

ओ३म्

वैदिक यज्ञों का स्वरूप

[पशु-बलि के विशेष सन्दर्भ में]

आधुनिक विद्वान् प्रायः वैदिक शब्द का अभिप्राय "सूत्र-पर्यन्त समस्त वैदिक वाङ्मय से सम्बद्ध" मानते हैं और तदनुसार जब वे किसी वैदिक विषय पर विचार करते हैं तो उनकी दृष्टि में यह समस्त वाङ्मय होता है। परन्तु 'वैदिक' का सीधा अर्थ 'वेद-सम्बन्धी' है और वेद केवल मन्त्रात्मक शब्द-राशि का नाम है। ब्राह्मण, आरण्यक आदि वाङ्मय उसकी व्याख्या हैं। इस कारण प्रस्तुत ग्रन्थ में 'वैदिक' के इसी अर्थ को दृष्टि में रखकर केवल ऋग्वेद (शाकल), वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता (शुक्ल यजुर्वेद), सामवेद (राणायणीय) और अथर्ववेद (शौनक) के आधार पर विषय का विवेचन किया गया है।

इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि यज्ञ से वेद को अलग नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही यज्ञ का उल्लेख है। इन संहिताओं में न केवल यज्ञ के चार प्रमुख पुरोहितों—होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा का उल्लेख हुआ है, अपितु पोता, प्रशास्ता, नेष्टा और अग्नित् (आग्नीध्र) जैसे गौण ऋत्विजों का भी वर्णन प्राप्त होता है।[1]

ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध मन्त्र में प्रमुख पुरोहितों के कार्यों का उल्लेख इस प्रकार

---

१. ऋ० २.५.१ (होता), २ (पोता), ४ (प्रशास्ता), ५ (नेष्टा), ६ (अध्वर्यु), ४.९.४ (ब्रह्मा), २.४.२(उद्गाता), २.१.२ (अग्नित्), २.३६.४(आग्नीध्र)

हुआ है कि एक ऋचाओं का उच्चारण कर उनकी पुष्टि करता है (होता), एक शक्वरी में गेय (ऋचाओं) का गायन करता है (उद्गाता), एक ब्रह्मा प्रत्येक यज्ञ-विधि-सम्बन्धी विद्या को बताता है और एक यज्ञ के परिमाण को मापता है (अध्वर्यु) अर्थात् यज्ञोपकरणों आदि के फैलाव और यज्ञ-वेदि के आकार-प्रकार को बनाता है।[1]

यज्ञ में जिन तीन प्रमुख अग्नियों का स्थापन किया जाता है उनका उल्लेख भी वेदों में हुआ है। उदाहरणार्थ अथर्ववेद में एक स्थल पर एक साथ गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण अग्नियों का उल्लेख हुआ है।[2] वा० सं० (२।६) में जुहू, उपभृत् और ध्रुवा नामक तीन स्रुचों (कड़छियों) के नाम आते हैं।[3] अथर्ववेद में भूमि की महिमा बताते हुए भी उसका सम्बन्ध यज्ञानुष्ठान से जोड़ा गया है और कहा है कि यह वह भूमि है जिसपर यज्ञ-सम्बन्धी सदोमण्डप अर्थात् सभामण्डप, हविर्धानमण्डप अर्थात् आहुतिद्रव्य रखने का कक्ष और यूप अर्थात् यज्ञस्तम्भ बनाये जाते हैं।[4] इसके अतिरिक्त यजुर्वेद (८।१५-३०) में आसन्दी, उत्तरवेदि, प्रयाज-अनुयाज, पुरोडाश, याज्या, अवभृथ, पत्नी संयाज, दीक्षा, दक्षिणा इत्यादि यज्ञीय पदार्थों और क्रियाओं का उल्लेख हुआ है। अथर्व० (११।७।६-१६) में महाव्रत, राजसूय, अग्निष्टोम, अश्वमेध, अग्न्याधेय, सत्र, अग्निहोत्र, एकरात्र, द्विरात्र, सद्यःक्री, प्रक्री, उक्थ्य, चतुरात्र, पञ्चरात्र, षड्रात्र, षोडशी, सप्तरात्र, विश्वजित्, अभिजित्, साह्न, त्रिरात्र, द्वादशाह, चतुर्होतारः, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, इष्टियाँ यज्ञों के नाम आये हैं। इतना ही नहीं, एक स्थल पर अतिथि-यज्ञ की तुलना अग्नि-ष्टोम की विभिन्न क्रियाओं से करके उसका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। तदनुसार अतिथि के लिए जो जल ले-जाया जाता है, वह वही है जिसे यज्ञ में लाकर रखा जाता है। जो अतिथि की तृप्तिहेतु पदार्थ लाये जाते हैं वे यज्ञ में अग्निषोम को उद्दिष्ट कर बाँधे जानेवाले पशु ही हैं। जो अतिथि के रहने का स्थान बनाते हैं, वह यज्ञ का सदोमण्डप और हविर्द्रव्य का स्थान ही है। जो चादर और ओढ़ने का वस्त्र लाते हैं वे वेदि की परिधियाँ ही हैं। जो काजल और अंगलेप लाते हैं, वे आज्य अर्थात् घी ही हैं। भोजन परोसने से पहले जो पदार्थ खाने को लाते हैं, वे दो

---

१. ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः॥
—ऋ० १०।७१।११

२. तमाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्य-चलन्। —अथर्व० १५।६।१४-१५ (द्र० अथर्व० ८।१०)

३. घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना। घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना। घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना।

४. यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते। —अथर्व० १२।१।३८

पुरोडाश ही हैं। जो भोजन बनानेवाले को बुलाते हैं, वे मानो हवि बनानेवाले को बुलाते हैं। भोज्य-सामग्री में जो जौ और धान वर्ते जाते हैं वे सोम के टुकड़े हैं।[१] अथर्व० ७।७६।३ में दर्श और ७।८०।२ में पूर्णमास का उल्लेख है।

वेदमन्त्रों में यज्ञ-नामों, यज्ञीय पदार्थों तथा यज्ञीय क्रियाओं के उल्लेख के आधार पर उनमें ब्राह्मणों तथा कल्पसूत्रों में वर्णित परवर्ती यज्ञों की जटिलताओं एवं सूक्ष्मताओं तथा विस्तार की आशा करना निष्फल होगा। वेदमन्त्रों का उद्देश्य पूर्ण जटिल यज्ञ-प्रक्रिया बताना नहीं है। परवर्ती काल में—ब्राह्मणग्रन्थों, श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों में न केवल आवश्यकतानुसार वेदमन्त्रों का सार्थक अथवा अर्थ-निरपेक्ष, ध्वनिसाम्यगत विनियोग किया गया, अपितु नये मन्त्र भी घड़े गये।[२] ध्वनिसाम्य-गत मन्त्र-विनियोग का उदाहरण वह निम्नलिखित मन्त्र है, जिसका उच्चारण दही खाने के प्रसंग में करने का विधान है—

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूंषि तारिषत्॥

यद्यपि मन्त्रगत दधिक्रावा शब्द अश्व का वाचक है, परन्तु इसके आद्य दो अक्षरों 'दधि' के साम्य के आधार पर इसका विनियोग प्रस्तुत प्रसंग में कर दिया गया।[३] वस्तुतः ऐसे विनियोगों के मूल में याज्ञिक पुरोहितों का अज्ञान है जिन्हें मन्त्रार्थ से कोई प्रयोजन नहीं था।[४]

वेदमन्त्र सामान्यतया यज्ञ की समान, व्यापक धारणा की अभिव्यक्ति करते हैं। वह यज्ञ पार्थिव भी है अर्थात् सामान्य मनुष्यों द्वारा भी किया जाता है। सुख का इच्छुक सामान्य मनुष्य अध्वर अर्थात् हिंसारहित यज्ञ में आहुतियाँ अर्पित करता है। वह यज्ञ साथ-ही-साथ दिव्य भी है, क्योंकि दिव्य जन अथवा विद्वान् भी अथवा

---

१. या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः। यत्तर्पणमाहरन्ति य एवाग्निषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः। यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत् कल्पयन्ति। यत्कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधय एव ते। यदाञ्जनाभ्यंजनमाहरन्त्याज्यमेव तत्। यत् पुरा परिवेषात् खादमाहरन्ति पुरोडाशावेव तौ। यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेव तद् ह्वयन्ति। ये व्रीहयो यवा निरूप्यन्तेंऽशव एव ते।
—अथर्व० ९।६।५-१४

२. इस विषय में विद्वानों का यह अभिमत भी है कि ऐसे मन्त्र किन्हीं लुप्त संहिताओं के हो सकते हैं।
—द्र० लेखक का 'गृह्यमन्त्र और उनका विनियोग' (भूमिका)

३. विस्तृत विवेचनार्थ देखें लेखक का 'गृह्यमन्त्र और उनका विनियोग' पृ० १५६-५८

४. द्र० वही, पृ० २६

प्राकृतिक शक्तियाँ भी यज्ञ के चिह्न-भूत अग्नि का समिन्धन करते हैं।[1] ज्ञान के प्रकाश और भौतिक इच्छाओंवाले सभास्थल पर सम्पन्न यज्ञ में जहाँ दिव्य गुणों के इच्छुक नेतृत्व-गुणयुक्त मनुष्य आनन्दित होते हैं, जहाँ इन्द्र अर्थात् सबके स्वामी परमेश्वर को जीवन का उत्तम रस अर्पित किया जाता है वहाँ मनुष्य आनन्द को सर्वप्रथम प्राप्त हों और गति को प्राप्त करें।[2] इस प्रकार यज्ञ भौतिक द्रव्यों के समर्पण और दिव्य अर्थात् प्रकाशमय ज्ञान की प्राप्ति का प्रतीक है।

वैदिक यज्ञ मूल रूप में आध्यात्मिक, भावनात्मक अथवा सृष्टि-सम्बन्धी यज्ञ है। इसीलिए पुरुषसूक्त में यज्ञ के द्वारा यज्ञ का, यजन करने का उल्लेख है। वहाँ सृष्टि का वर्णन है। सृष्टि के आरम्भ में सब प्राकृतिक शक्तियों ने परमदेव की पूजा, विभिन्न पदार्थों के संगतिकरण द्वारा उन पदार्थों को देकर सृष्टि-निर्माणरूपी यज्ञ में सहयोग किया।[3] ये तीन कार्य ही प्राथमिक धर्म अर्थात् धारक तत्त्व थे। इसी की व्याख्या यास्क ने 'अग्निनाग्निमयजन्त' कहकर दी है। दुर्गाचार्य के अनुसार देवों अर्थात् ईश्वर की दिव्य शक्तियों ने (जो आगे चलकर देव बनीं), ज्ञान और कर्म का समुच्चय करनेवाले पूर्ववर्ती 'यजमान' बने हुए, विश्वस्रष्टाओं और प्राणों ने स्थावर-जंगम संसार के रूप में प्रकट हवि बने हुए अग्नि के द्वारा आदित्य के रूप में सब देवों के प्रतिनिधि महान् आत्मा का यजन किया अर्थात् उससे संगति की।[4] यहाँ देव सूर्य की किरणें भी मानी गई हैं—उन्होंने अग्नि अर्थात् सूर्य-तेज के द्वारा अग्नि अर्थात् भौतिक (पार्थिव) अग्नि का यजन किया अर्थात् उसे बढ़ाया।[5]

यह यज्ञ सृष्टियज्ञ के साथ-साथ आध्यात्मिक भी है। प्रजापति के प्राणरूप देवों

---

१. सजोषा त्वा दिवो नरो यज्ञस्य केतुमिन्धते।
यद्ध स्य मानुषो जनः सुम्नायुर्जुह्वे अध्वरे॥ —ऋ० ६।२।३

२. यज्ञे दिवो नृषदने पृथिव्या नरा यत्र देवयवो मदन्ति।
इन्द्राय यत्र सवनानि सुन्वे गमन्मदाय प्रथमं वयश्च॥ —ऋ० ७।९७।१

३. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥
—ऋ० १०।९०।१६, वां० सं० ३१।१६
विस्तृत विविध-व्याख्याओं के लिए द्र० 'पुरुषसूक्त का विवेचनात्मक अध्ययन' (कुसुमलता) पृ० १६० और आगे।

४. अग्निना स्थावरजंगमभावमापन्नेन हविर्भूतेन अग्निमेव सर्वदेवता भूतमादित्य-प्रनाडिकया महान्तमात्मानमयजन्त देवा देवभाविनः पूर्वे ज्ञानकर्मसमुच्चय-कारिणो यजमानभावमापन्नाः साध्या विश्वसृज ऋषयः प्राणाः।

५. देवाः सूर्यरश्मयो यज्ञेनाग्निना सौरेण तेजसा, यज्ञमग्निं पार्थिवाग्निममयजन्त-वर्धयन्त। —नि० १२।४१ पर ब्रह्ममुनि परिव्राजक

ने मानसिक संकल्परूप यज्ञ के द्वारा यज्ञस्वरूप प्रजापति का यजन किया अर्थात् उसकी पूजा की ।[1] अथवा योगियों ने समाधिरूप यज्ञ के द्वारा नारायणनामक ज्ञान-रूपी यज्ञ किया ।[2] महर्षि दयानन्द के अनुसार देवों अर्थात् विद्वानों ने ज्ञानरूपी यज्ञ के द्वारा पूजनीय अग्नि के समान शत्रुओं को तपानेवाले सबके रक्षक की पूजा की ।[3] योगी अरविन्द के मतानुसार, इस यज्ञ का अभिप्राय है आत्मशक्ति का विभुशक्ति से संयोग करना, उसमें विलय करना । यही समाधि की अवस्था है । गीता में इसे ही ब्रह्म-हवि का ब्रह्म में अर्पण कहा गया है ।[4]

ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में भी अग्नि अथवा सबका नेतृत्व करनेवाले परमेश्वर को जिस यज्ञ का देव, ऋत्विज्, पुरोहित, होता कहा गया है, उसे भी उपर्युक्त नृष्टियज्ञ अथवा आध्यात्मिक यज्ञ माने विना पूर्ण संगति नहीं लग सकती । वह परमेश्वर उस यज्ञ का देव है, क्योंकि वह सृष्टि अथवा आध्यात्मिक जीवन में सब-कुछ देनेवाला, प्रकाशित करनेवाला है । वह ऋत्विज् है, क्योंकि विभिन्न ऋतुओं अथवा कल्प के आरम्भ में सृष्टियज्ञ करता है । वह सबसे आगे है इसलिए पुरोहित है । वह होता है, क्योंकि वह सब-कुछ देता है, लेता है, (हु दानादानयोः) ।

अथर्ववेद में उल्लेख है कि परमेश्वर ने महान् व्यापक सृष्टि के मूल तत्त्व (प्रकृति) से तैंतीस लोकों का निर्माण किया और फिर उन लोकों के ज्ञानार्थ उसने यज्ञ की सृष्टि की ।[5] इस प्रकार यज्ञ न केवल सृष्टि का प्रतीक है, अपितु उसकी व्याख्या भी है ।

यहाँ सृष्टि के मूल तत्त्व को ओदन कहा गया है । ओदन की विशेषता यह है कि सम्पूर्ण सूक्त (अथर्व० ११।२) में वार-वार उसे सबका अंग, सबका अवयव और सबका शरीर बताया गया है । अभिप्राय यह है कि सभी प्राणियों के शरीर के तत्त्व उसमें विद्यमान हैं ।[6]

---

१. देवाः प्रजापतिप्राणरूपा यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन संकल्पेन यज्ञं यथोक्तयज्ञ-स्वरूपं प्रजापतिमयजन्त पूजितवन्तः ।
—ऋ० १०।९०।१६ पर सायण, तु० महीधर

२. एवं योगिनोऽपि दीपनाद् देवा यज्ञेन समाधिना नारायणाख्यं ज्ञानरूपमयजन्त ।
—उवट

३. यज्ञेन उक्तेन ज्ञानेन यज्ञं पूजनीयं सर्वरक्षकमग्निवत्तपनमयजन्त पूजयन्ति देवा विद्वांसः । (वा० सं० ३१।१६ पर दयानन्द-भाष्य)

४. ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।। —गीता ४।२४

५. एतस्माद्वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान्निरमिमीत प्रजापतिः ।
तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत ।। —अथर्व० ११।३।३-४

६. एष वा ओदनः सर्वांग सर्वपरुः सर्वतनूः । —अथर्व० ११।२।१

पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार मन्त्रार्थ का चरम लक्ष्य आध्यात्मिक ज्ञान ही है। यास्क (नि० १।२०) ने वाणी (मन्त्र) के अर्थ को उसका पुष्पफल बताते हुए कहा है कि ये पुष्प और फल यज्ञ-सम्बन्धी देवता-ज्ञान अथवा देवता-ज्ञान और अध्यात्मज्ञान हैं।[1] इसकी व्याख्या करते हुए पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने बताया है कि याज्ञिक प्रक्रिया का ज्ञान देवता अथवा ब्रह्माण्ड-विज्ञान में सहायक है। जब यह दैवत ज्ञान हो जाता है तो वही आध्यात्मिक ज्ञान की दृष्टि से पुष्परूपी हो जाता है और आगे चलकर अध्यात्मज्ञानरूपी फल को सम्पन्न करता है।[2] गीता के अनुसार भी सर्वव्यापक ब्रह्म यज्ञ में प्रतिष्ठित है।[3]

इसीलिए वैदिक यज्ञ पार्थिव और दिव्य एक साथ दोनों है। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को एक साथ सब प्राणियों और सब देवों का आत्मा बताया गया है।[4] अथर्व० में उल्लेख है कि जो पञ्चौदन अज को यज्ञ में अर्पित करता है, वह मानो उस सीमित यज्ञ के द्वारा असीम यज्ञ को और असीम लोक को प्राप्त करता है।[5]

यज्ञ अपने मूल रूप में दिव्य है। इसीलिए यज्ञ का स्थान परम गुहा में छिपा हुआ कहा गया है और बताया गया है कि मनुष्यों ने वहीं से उसे प्राप्त किया।[6] यज्ञ अपने सूत्रों से सब ओर फैला हुआ है; यह एक सौ एक अर्थात् असंख्य प्रकार से दिव्य कर्मों द्वारा विस्तृत है।[7] यज्ञ की दिव्यता इस बात में भी है कि उषा और रात्रि को मनुष्य के लिए सभी समयों में सब ओर से दो विदुषी स्त्रियों के समान यज्ञ को लानेवाली बताया गया है।[8] यहाँ मूल भावना यह प्रतीत होती है कि जिस प्रकार ये दोनों अपने-अपने कल्याणकारी कार्यों का विस्तार करती हैं और बिना विरोध के निश्चित क्रम में आती-जाती रहती हैं, उसी प्रकार उनसे मनुष्य भी संगठित होकर परोपकारार्थ यज्ञ करने की शिक्षा प्राप्त करते हैं।[9] जैसा कि महर्षि दयानन्द ने यज्ञ

---

१. अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा।

२. याज्ञिकप्रक्रियाया ज्ञानं दैवतज्ञाने (=ब्रह्माण्डविज्ञाने) कारणम्।
यदा च दैवतज्ञानं सम्पद्यते, तदा तदेवाध्यात्मज्ञानदृष्ट्या।
पुष्पस्थानीयं सत् फलस्थानीयमध्यात्मज्ञानं सम्पादयति।
—श्रौतयज्ञमीमांसा, पृष्ठ १८

३. तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्। —गीता ३।१५

४. सर्वेषां वा एष भूतानां, सर्वेषां देवानामात्मा यद्यज्ञः। —श० ब्रा० १४।३।२।१

५. अपरिमितमेव यज्ञमाप्नोत्यपरिमितं लोकमव रुन्धे।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ —अथर्व० ९।५।२२

६. अविन्दन्ते अतिहितं यदासीद्यज्ञस्य धाम परमं गुहा यत्। —ऋ० १०।१८१।२

७. यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः। —ऋ० १०।१३०।१

८. उषासानक्ता विदुषीव विश्वमाहा वहतो मर्त्याय यज्ञम्। —ऋ० ५।४१।७

९. साध्वपांसि सनता न उक्षिते उषासानक्ता वय्येव रण्वते। ऋ० २।३।६

का उद्देश्य बताया है, वे सब मिलकर ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख के लिए विद्या, ज्ञान, धर्मानुष्ठान में बढ़े हुए विद्वानों का सत्कार करते हैं, सभी पदार्थों के मेल और विरोध का ज्ञान प्राप्त कर उनकी संगति के द्वारा शिल्पविद्या का अभ्यास करते हैं और विद्वानों से संगति करते रहते हैं तथा विद्या, सुख, धर्म आदि शुभ गुणों का नित्यप्रति दान करते हैं।[1]

यज्ञ दिव्य है, क्योंकि देवों ने पहले सूक्तों अर्थात् स्तुतियों से युक्त सूर्यरूप अग्नि को उत्पन्न किया, फिर हवि को उत्पन्न किया। वह यज्ञ उनके शरीरों का रक्षक हो गया, उसे द्यौः, पृथिवी और आकाश जानता है।[2] अभिप्राय यह है कि समस्त ब्रह्माण्ड में, सभी प्राकृतिक पदार्थों में यज्ञ का विस्तार है। वस्तुतः स्वयं ईश्वर यज्ञ-स्वरूप है। इसीलिए उस प्रजाओं के पालक सबके शासक से प्रार्थना की गई है कि वह सब प्राकृतिक पदार्थों तथा विद्वानों के द्वारा हमारे यज्ञ की वृद्धि करे।[3]

पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०) में उसी सृष्टियज्ञ का वर्णन है जिसमें सृष्टि के उद्देश्य से स्रष्टा सब-कुछ होम देता है। तभी सब प्रकार के पशुओं, पक्षियों की सृष्टि होती है, तभी चारों वेदों की सृष्टि होती है।[4] भौतिक जगत् में यदि मनुष्य कुछ निर्माण करना चाहता है तो उस निर्माण-यज्ञ में उसे अपनी सब वृत्तियाँ, अपना सब-कुछ होम देना होता है—तभी सृष्टि होती है। सृष्टि यज्ञ है, क्योंकि उससे समाज लाभान्वित होता है। ज्ञान के प्रकाश से देदीप्यमान, ऋत की वृद्धि करनेवाले, शाश्वत नियमों का चिन्तन करनेवाले विद्वान् ज्ञान के प्रकाश को धारण करके अपनी शक्ति से सब ओर व्याप्त होते हैं और यज्ञ का सम्पादन करके वे अपने

---

१. यज्ञः—विद्याज्ञानधर्मानुष्ठानवृद्धानां देवानां विदुषामैहिकपारलौकिक सुख-सम्पादनाय सत्करणम्, सम्यक् पदार्थगुणसम्मेलविरोधज्ञानसंगत्या शिल्प-विद्याप्रत्यक्षीकरणं नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठानं (च), विद्यासुखधर्मादिशुभ-गुणानां नित्यदानकरणम्। —यजुर्भाष्य १।२

२. सूक्तवाकं प्रथमादिदग्निमादिद्धविरजनयन्त देवाः।
स एषां यज्ञो अभवत् तनूपास्तं द्यौर्वेद तं पृथिवी तमापः॥
—ऋ० १०।८८।८

३. इन्द्र प्र णो धितावानं यज्ञं विश्वेभिर्देवेभिः। तिरः स्तवान विश्पते॥
—ऋ० ३।४०।३

४. तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशून्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये॥
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ —ऋ० १०।९०।८-९

शरीरों को तेजस्वी बनाते हैं।[1]

दिव्य अध्वर्यु अथवा सूर्य-चन्द्रमा अथवा द्युलोक और पृथिवीरूप अश्विनौ यज्ञ करते हैं, उनका यज्ञरूपी रथ निरन्तर चलता है और उसके द्वारा वे हमारे लिए सुख-शान्ति और नीरोगता उत्पन्न करते हैं।[2]

यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि यज्ञ सूक्ष्म होकर वाष्पीकरण के द्वारा द्युलोक तक या बहुत ऊँचे पहुँचता है। दो क्रान्तदर्शी विद्वान् होता मधुर जिह्वा से मन्त्र-उच्चारण करते हुए आज द्युलोक का स्पर्श करनेवाले हमारे इस सिद्धिदायक यज्ञ की वृद्धि करें।[3] यह प्रार्थना एक ओर जहाँ यज्ञ की उपयोगिता बताती है वहीं उसकी व्यापकता,की ओर भी संकेत करती है।

यह यज्ञ सभी मनुष्यों का सामूहिक कर्त्तव्य है। इसीलिए यह संकल्प व्यक्त किया गया है कि हे अग्नि, परिस्थितियों पर शासन करते हुए हम सब नित्यप्रति तुझे बहुत आहुतियाँ अर्पित करें।[4] सब मनुष्यों को प्रेरणा दी गई है कि वे सब सबकी रक्षा के लिए स्तोता के यज्ञ में सम्मिलित होकर शोभन स्तुति करें।[5] पुरुषसूक्त में जो पुरुष के सर्वस्वार्पण का उल्लेख है, वह समाज के हित सम्पूर्ण बलिदान का द्योतक है। इसी प्रकार परमेश्वर की स्तुति का उद्देश्य भी यह है कि उससे सब दोपायों और चौपायों का कल्याण हो और इस संसाररूपी ग्राम में सब-कुछ परिपुष्ट तथा कष्टरहित हो।[6] यज्ञ सम्पूर्ण पृथिवी को धारण करनेवाला महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। उसके साथ जो सत्य, ऋत, दीक्षा, तप और ब्रह्म नामक तत्त्व गिनाये गये हैं वे यज्ञ के ही दूसरे रूप हैं।[7] परमेश्वर यज्ञमय है। वह यजनीय अथवा पूजनीय भी है। वह सब यजनीयों में श्रेष्ठ यजनीय है।[8]

---

१. दिवक्षसो अग्निजिह्वा ऋतावृध ऋतस्य योनिं विमृशन्त आसते।
द्यां स्कभित्व्यप आ चक्रुरोजसा यज्ञं जनित्वी तन्वी नि मामृजुः॥
—ऋ० १०।६५।७

२. तेन नः शं योरुषसो व्युष्टौ न्यश्विना वहतं यज्ञे अस्मिन्॥ —ऋ० ७।६९।५

३. मन्द्रजिह्वा जुगुर्वणी होतारा दैव्या कवी।
यज्ञं नो यक्षतामिमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम्। —ऋ० १।१४२।८

४. त्वे अग्न आहवनानि भूरीशानास आ जुहुयाम नित्या। ऋ० ७।१।१७

५. यज्ञं गिरो जरितुः सुष्टुतिं च विश्वे गन्त मरुतो विश्व ऊती।
—ऋ० ५।४३।१०

६. यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्।
—ऋ० १।११४।१

७. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। —अ० १२।१।१

८. मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानाम्। —ऋ० ८।९६।४

यज्ञवेदि पृथिवी का परला सिरा है। यह भी कहा जा सकता है कि दूर-दूर तक, अन्तिम छोर तक पृथिवी यज्ञ की वेदि है, यज्ञमय है। जिस सोम का आहुति के रूप में प्रयोग होता है, वह कामनाओं के वर्षक बलशाली, गतिशील परमेश्वर का ही सार है। यह यज्ञ समस्त भुवन, ब्रह्माण्ड की नाभि अथवा केन्द्र है। वस्तुतः यज्ञ समस्त जगत् का मूल है।[1] अथर्ववेद में परमेश्वर स्कम्भ अर्थात् समस्त विश्व का आधार बताया गया है। वह सर्वव्यापक है। उसके विस्तार की कल्पना इस बात से की जा सकती है कि चारों दिशाएँ उसकी नाड़ियाँ कही गई हैं। उसमें यज्ञ पराक्रान्त हो जाता है अर्थात् अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। दूसरे शब्दों में कहा गया है कि वह विश्वाधार क्योंकि सृष्टि का आधार है, इसलिए यज्ञमय है। सम्पूर्ण सृष्टि ही यज्ञमय है।[2]

इस प्रकार यज्ञ सृष्टि का शाश्वत नियम है। यज्ञ निरन्तर चलता है। यज्ञ ऋत है।[3] भौतिक यज्ञ इस व्यापक सृष्टियज्ञ का प्रतिरूप है, उसका अनुकरण है। यह सृष्टि के नियमों को पालन करने का संकल्प है। यह सृष्टि को, प्रकृति को, जल-वायु आदि वातावरण को सम्यक् बनाये रखने के रूप में सहायक है। जिस प्रकार समस्त प्रकृति सब जीव-जन्तुओं के लिए उपकारक है, उसी प्रकार आत्म-बलिदान की भावना के कारण यज्ञ भी सबके लिए उपकारक है।[4]

यज्ञ निरन्तर चलता रहता है। इसीलिए पुरातन और अभिनव यज्ञ मिलकर एक हो जाते हैं। प्रथम यज्ञ के विषय में यजमान पूछता है, और दूत अर्थात् अग्नि अथवा परमेश्वर प्रत्युत्तर में पूछता है कि पहलेवाला ऋत अर्थात् यज्ञ कहाँ गया और कौन नया उसको धारण करता है—मेरी इस बात को पृथिवी और आकाश जानें।[5] अभिप्राय यह है कि पृथिवी और आकाश के मध्य में जितने भी तत्त्व हैं, वे इस बात से परिचित हैं अथवा सबमें यह नियम व्याप्त है कि शाश्वत सत्य अथवा यज्ञ नया और पुराना नहीं—वह एक ही है। इसीलिए यजमान यह अनुभव करता

---

१. इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः······॥ —अथर्व० ९।१०।१४

२. यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः।
यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥
—अथर्व० १०।७।१६

३. ऋतं वै सत्यं यज्ञः। —मै० सं० १।१०।१२

४. आत्मदक्षिणं वै सत्रमात्मानमेव दक्षिणां नीत्वा सुवर्गं लोकं यन्ति।
—तै० सं० ७।४।९।१

५. यज्ञं पृच्छाम्यवमं स तद् दूतो वि वोचति।
क्व ऋतं पूर्व्यं गतं कस्तद् बिभर्ति नूतनो वित्तं मे अस्य रोदसी॥
—ऋ० १।१०५।४

है मानो वह मनरूपी नेत्रों से उन्हें देख रहा हो जिन्होंने यह यज्ञ पहले किया था।[१] एक अन्य मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि हे अग्नि, जिस प्रकार क्रान्तदर्शी होते हुए तुमने क्रान्तदर्शियों के साथ आहुतियों के द्वारा मेधावी मनुष्य का देवों के प्रति यज्ञ सम्पन्न किया था, उसी प्रकार हे होता, हे सत्यनिष्ठ, तुम आज मधुर आहुति के द्वारा यज्ञ करो।[२] भाव यह है कि यज्ञ सब कालों में एक-सा है और सच्चे यज्ञकर्त्ता की भावना सदा एक-सी रहती है। इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि जिस अग्नि से प्रार्थना की गई है वह भौतिक अग्नि नहीं हो सकता। वह अवश्य ही सद्-गृहस्थ, विद्वान्, सत्यवादी पुरोहित है। मानव-मात्र का पिता, प्रथम चिन्तक स्वयं इतना यज्ञमय है कि उसे यज्ञ ही कह दिया गया।[3]

वैदिक यज्ञ के इस सर्वव्यापक, सर्वोपकारक और निरन्तर प्रवर्तमान शाश्वत रूप को देखकर अगुइलार नामक विद्वान् ने निम्नलिखित भाव प्रकट किये हैं— "आर्यों का सत्य निस्सन्देह यज्ञानुष्ठान है, क्योंकि वैदिक भारतीयों की दृष्टि में यज्ञ के बिना किसी प्रकार का ऋत सम्भव नहीं है।"[४] इस विद्वान् के मतानुसार यज्ञ और ऋत पर्याय हैं, अतः यज्ञ सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है; 'वह किसी अपने से उत्कृष्ट तत्त्व को प्राप्त करने का साधन नहीं। यज्ञ अथवा ऋत के द्वारा अपने ही उन्नत रूप की उपासना के द्वारा उसकी प्राप्ति की जाती है।[५] एक मन्त्र में कहा गया है कि मैं ऋत के द्वारा निश्चित अथवा सुस्थिर ऋत की उपासना करता हूँ।[६]

वैदिक यज्ञ की इस उदात्त भावना को देखते हुए यह कल्पना करना भी असम्भव है कि वह यज्ञ किसी हीन अथवा निम्न अथवा आदिम अविकसित धारणा से सम्बद्ध रहा होगा। परन्तु जैसाकि खोंडा ने उल्लेख किया है, लुई रेनु (वैदिक इंडिया) और आवेल वर्गे (वैदिक रिलिजन) तथा अन्य विद्वानों ने वैदिक यज्ञ को जादू पर आधारित माना है।[७] इसके विरोध में अगुइलार के अग्रलिखित विचार

---

१. पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान् य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे।—ऋ० १०।१३०।६

२. यथा विप्रस्य मनुषो हविर्भिर्देवाँ अयजः कविभिः कविः सन्।
एवा होतः सत्यतर त्वमद्याग्ने मन्द्रया जुह्वा यजस्व॥ —ऋ० १।७६।५

३. यज्ञो मनुः प्रमतिर्नः पिता हि कम्॥ —ऋ० १०।१००।५

४. The Aryan truth is undoubtedly to sacrifice, for without yajña no ṛta of any kind is possible in the eyes of the Vedic Indians. —The Sacrifice in the Rgveda (से० इन ऋ०), पृ० २७

५. In the Vedic perspective, however, the sacrifice is not ordained to something different or higher than itself, but at the most a higher form of itself. —वही, पृ० २७

६. ऋतेन ऋतं नियतमीळे। —ऋ० ४।३।६

७. 'चेंज एण्ड कंटीन्यूटी इन इंडियन फिलोसोफी', पृ० १३१

उद्धृत करना पर्याप्त होगा—"यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वेदों के अनुसार यज्ञ अपने नाम के अनुरूप ही यातुधान आदि के जादुई आचरणों का विरोधी है। यह बात देवों और असुरों—दोनों पद्धतियों के केवल शक्तियों के आह्वान की विधि पर आधारित नहीं है, अपितु उनके चरम लक्ष्य पर भी आधारित है जिसे एक (देव) प्रसंग में सृष्टि के दिव्य कार्य के साथ सहयोग और संसार के प्रत्युपकार के रूप में, और दूसरे (असुर) प्रसंग में किसी-न-किसी प्रकार उसमें बाधा डालने के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।...इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि ब्राह्मणों के अनुसार[1] श्रद्धाविहीन यज्ञ निष्फल है और इसके विपरीत यदि कोई श्रद्धावान् होकर यज्ञ करता है तो यज्ञ कभी निष्फल नहीं होता है।[2]

वैदिक यज्ञ उदात्त है, विराट् है, व्यापक है और लोकोपकारक है। यह यज्ञ सर्वजनकल्याण की भावना से पूर्ण है। यह समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त शाश्वत नियम है। यज्ञ स्रष्टा के प्रति आभार व्यक्त करने का उत्तम साधन है। इसलिए श्रद्धा, सत्य, विनम्रता और तपस्या के बिना यज्ञ की कल्पना नहीं की जा सकती।

ऐसा यज्ञ हिंसा से युक्त हो ही नहीं सकता। यज्ञ अध्वर अर्थात् ध्वर (हिंसा) से रहित है। परमेश्वर की स्तुति करते हुए वेदमन्त्र में कहा गया है कि हे सबका नेतृत्व करनेवाले, तेजःस्वरूप परमेश्वर! जिस अध्वर अर्थात् हिंसारहित यज्ञ को तू सब ओर से व्याप्त करता है, वही देवताओं या प्राकृतिक पदार्थों अथवा विद्वानों

---

१. तस्माद् यद् ब्राह्मणोक्तोऽश्रद्दधानो यजते शंयुमेव तस्य बार्हस्पत्यं यज्ञस्याशीर्गच्छति। —तै० सं० २।६।१०।१

न वा इह तर्हि किञ्चनासीदथैतदहूयतैव सत्यं श्रद्धायामिति वेत्थाग्निहोत्रम्। —श० ब्रा० ११।३।१।४

२. But what can be certainly stated is that according to the Vedas the yajña is antonomastically the contrary of the magical practices of the Yātudhāna etc., and this is not only on account of the mode of being invoked of the powers in both cults, devas and asuras, but also on account of their different finality, which could be defined in one case as collaborating with the divine work of creation and redemption of the world and in the other as trying to obstruct it in one way or the other...... It is worthwhile noticing in this regard that according to the Brāhmaṇas the sacrifice without the shraddhā is sterile and contrariwise, that if one sacrifices having the shraddhā the sacrifice is never really lost. —से०इन ऋ० पृ० १००-१०१

को प्राप्त होता है अथवा विद्वानों के द्वारा स्वीकार किया जाता है।[1] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि विद्वानों को हिंसारहित यज्ञ ही अभीष्ट है, क्योंकि यही परमेश्वर द्वारा निरन्तर अनुष्ठीयमान यज्ञ है। यजुर्वेद में भी अग्नि को सम्बोधित करके कहा गया है कि हे क्रान्तदर्शी, हम तुझ प्राप्ति-हेतु यज्ञ, के धारक, महान् तेजस्वी का अध्वर में समिन्धन करते हैं।[2] सामवेद और अथर्ववेद में भी यज्ञ के लिए बहुधा अध्वर शब्द का प्रयोग हुआ है। सामवेद में क्रान्तदर्शी, सत्यधर्मा देव, रोगनाशक अग्नि का अध्वर में स्तवन करने की प्रेरणा दी गई है।[3] अथर्ववेद में अच्छी वाणीवाले तनूनपात् को सम्बोधित करके कहा गया है कि आप माधुर्य के द्वारा ऋत के मार्गों को युक्त करते हुए और अपनी बुद्धि से उदात्त विचारों को और यज्ञ को समृद्ध करते हुए हमारे अध्वर को देवताओं में स्थित कर दीजिए।[4] ये अध्वर शब्द के प्रयोग के केवल कुछ उदाहरण हैं। यह शब्द चारों वेदों में यज्ञ के पर्याय अथवा विशेषण के रूप में पौनःपुन्येन आया है।[5] इससे यह निश्चित है कि वैदिक यज्ञ की मूल भावना हिंसारहित है।

परन्तु अनेक भ्रान्तियों और पूर्वाग्रहों के आधार पर विद्वान् वैदिक यज्ञों में हिंसा का प्रतिपादन करते रहे हैं। राजेन्द्र लाल मिश्र[6] भूमानन्द[7] मैकडोनल-कीथ[8] प्रभृति विद्वानों ने यज्ञों में पशुवध और गोमांसभक्षण का प्रतिपादन किया है। अतिथिग्व और अतिथिनीर्गा शब्दों के भ्रान्त अर्थों ने इस प्रकार के विचारों को सहायता प्रदान की है। विनायक महादेव आप्टे ने ऋ० १०।६८।३ के आधार पर अतिथिनीर्गा का अर्थ "अतिथि के लिए गाय को मारनेवाला" किया है।[9] मन्त्र निम्नलिखित है—साध्वर्या अतिथिनीरिषिराः स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः॥

---

१. अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद् देवेषु गच्छति।—ऋ० १।१।४
२. वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे॥—वा० स० २।४
३. कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीवचातनम्॥
—साम० १।१।३।१२
४. तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समंजन्त्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः॥
—अ० ५।१२।२
५. द्र० स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, 'भूमिका भास्कर', पृ० ३६-३७
६. 'बीफ इन एंश्येंट इण्डिया', बृ० उप० ६।४।१८ की व्याख्या
७. 'बीफ इन एंश्येंट इंण्डिया', भूमिका
८. 'वैदिक इंडेक्स', खं० २, पृ७ १४५
९. 'वैदिक एज' (भारतीय विद्या भवन), पृ० ३९३

इसका सायणकृत अर्थ ही गोवध के विपरीत है। सायण के अनुसार 'बृहस्पति कल्याणकर जल को ले-जानेवाली, निरन्तर गतिशील (अतिथिनीः) अभीष्ट, स्पृहणीय, सुन्दर वर्णवाली, निर्दोष रूपवाली गौओं को वल के पर्वतों से निकालकर देवों के पास पहुँचाता है जैसे कोई ऋण दाता से लेकर जौ बोता है।'[1]

इससे यह स्पष्ट है कि आप्टे महोदय ने स्वयं सायण का भाष्य देखने का कष्ट नहीं किया। यह ध्यान देने योग्य है कि समस्त ऋग्वेद में—"अतिथिनीः" शब्द केवल एक बार यहाँ प्रयुक्त हुआ है।

जहाँ तक अतिथिग्व शब्द का प्रश्न है, इसमें अतिथि-गु, अतिथि-गम् अवयव अत्यंत स्पष्ट हैं और गौ की कल्पना अनावश्यक तथा अनभीष्ट है। इसीलिए महर्षि दयानन्द ने सर्वत्र इसका अर्थ अतिथियों के सत्कार के लिए उनके पास जानेवाला किया है।[2] सायण ने कुछ स्थलों पर इसे व्यक्तिवाचक संज्ञा माना है, परन्तु अन्य स्थलों पर उसके और महर्षि दयानन्द के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।[3] यद्यपि अतिथिग्व और अतिथिनीर्गाः के प्रसंग में सायणभाष्य द्वारा किसी रूप में पशुबलि का संकेत नहीं मिलता, परन्तु निम्नलिखित जैसे मन्त्रों के भाष्य द्वारा सायण ने पशुबलि होने के विचार को बल प्रदान किया है—

त्वं नो असि भारताग्ने वशाभिरुक्षभिः। अष्टापदीभिराहुतः॥ (ऋ०२।७।५)
इसका सायणभाष्य के अनुसार अर्थ है—हे ऋत्विजों के पुत्ररूप अग्नि, तू हमारी बाँझ गौओं, साँडों और गर्भवती गौओं के द्वारा आहुत अर्थात् आराधित होता है।[4]

यह अर्थ प्रसंग के सर्वथा अनुकूल है। इससे पहले मन्त्र में अग्नि को "घृतेभिराहुतः" (घृतों द्वारा आहुत) और अगले मन्त्र में "सर्पिरासुतिः" (जिसमें सर्पि

---

१. साध्वर्याः साधूनां कल्याणानां पयसां नेत्रीः, अतिथिनीः, सततं गच्छन्तीः इषिराः एषणीयाः स्पार्हाः स्पृहणीयाः सुवर्णाः शोभनशुक्लादिवर्णोपेताः अनवद्यरूपाः प्रशस्यरूपाः एताः गाः पर्वतेभ्यः वलसम्बन्धिभ्यः वितूर्य निर्गमस्य ऊपे देवसमीपे निर्वपति प्रापयति यथा यवं कुसीदेभ्यः आदाय निर्वपति।

२. अतिथिग्वम्—योऽतिथीन् गच्छति तं राजादिजनम् (६।१८।१३), अतिथीन् प्राप्नुवन्तं सेनापतिम् (१।११२।१४), योऽतिथीन् गच्छति गमयति वा तं विद्वज्जनम् (४।२६।३), अतिथिग्वस्य—अतिथीन् गच्छतः प्रजाजनस्य (६।४७ २२), अतिथिग्वाय—अतिथीन् गच्छते विद्वज्जनाय (१।१३०।७)

३. अतिथिग्वम्—अतिथीनाम् अभिगन्तारम्(दिवोदासम्)(४।२६।३, ६।१८।१३) अतिथिभिर्गन्तब्यम् (१।११२।१४)अतिथिग्वाय—अतिथिभिर्गन्तव्याय दिवोदासाय (६।२६।३) पूज्यातिथीन् गच्छति तस्मै (७।१९।८)

४. हे भारत ऋत्विजां पुत्रस्थानीय अग्ने नः अस्मदीयः त्वं वशाभिः वन्ध्याभिर्गोभिः उक्षभिः सेक्तृभिर्बलीवर्दैः अष्टपदीभिः गर्भिणीभिश्च आहुतः आराधितः असि।

अर्थात् पिघला हुआ घी अर्पित किया जाता है) कहा गया है। तदनुसार वशाभिः और अष्टापदीभिः का तद्धितार्थ तथा यौगिकार्थ लेकर "कमनीय धेनुओं से प्राप्त घृत के द्वारा" अर्थ करना तथा उक्षभिः का भी यौगिक अर्थ "सेचनों के द्वारा" लेकर "घृतादि हविर्द्रव्यों के द्वारा" करना अधिक उचित प्रतीत होता है। अथवा जैसाकि महर्षि दयानन्द ने अर्थ किया है तदनुसार यहाँ उत्तम स्तुतियों द्वारा अग्नि-रूप परमेश्वर की आराधना अभिप्रेत है। इस स्थिति में वशा कमनीय स्तुतियाँ और अष्टापदी भी आठ पादों वाली अतिधृति प्रगाथ आदि छन्दों में निबद्ध स्तुतियाँ हैं।[1] उक्षभिः का अर्थ कामनाओं की वर्षक स्तुतियाँ होगा।

निम्नलिखित मन्त्र के सायणभाष्य से भी पशुबलि की भ्रान्ति होती है—

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम्।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥

—ऋ० १०।८६।१४

सायण-भाष्यानुसार अर्थ होगा—"मुझ भार्या सहित इन्द्र के लिए याज्ञिक पंद्रह और बीस साँडों को पकाते हैं। मैं उनको खाता हूँ और खाकर मोटा हो जाता हूँ। याज्ञिक मेरे दोनों उदरों को सोम से भर देते हैं। इस प्रकार मैं इन्द्र सबसे श्रेष्ठ हूँ।"[2]

इससे पूर्ववर्ती मन्त्र की व्याख्या यास्क द्वारा (नि० १२।९) की गई है। उसके अनुसार जिन साँडों के इन्द्र द्वारा खाये जाने का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में दिखाई देता है वे साँड (उक्षन्) यास्क के निर्वचन के अनुसार प्रवृद्ध अथवा जल सेचन करने वाले मेघ हैं।[3] माध्यमिक इन्द्र जब वर्षा करके उन मेघों को खाली करता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसने उन्हें खा लिया और वह मोटा हो गया। इन्द्र के दो उदर भी प्रतीकात्मक हैं। ये दो उदर अन्तरिक्ष और पृथिवी हैं, क्योंकि वर्षा के समय दोनों में पानी भर जाता है। उन पन्द्रह-बीस मेघरूप साँडों को पकाने, बनानेवाले सूर्य के विविध रूप हैं जिनमें से एक, वृषाकपायी, का वर्णन निरुक्त के निर्दिष्ट (१२।९) प्रसंग में किया गया है।

इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में दी गई उपमा के द्वारा भी यह माना जाता है कि उसमें वध-स्थान पर गई और वध के पश्चात् पृथिवी पर पड़ी हुई गौओं का

---

१. वशाभिः कमनीयाभिर्गीर्भिः अष्टापदीभिः अष्टौ पादा यासां ताभिर्वाग्भिः।
२. अथेन्द्रो ब्रवीति। मे मदर्थं पंचदशसंख्याकान् विंशतिसंख्याकांश्च वृषभान् साकं सह मम भार्ययेन्द्राण्या प्रेरिता यष्टारः पचन्ति। उत अपि च अहं तान् भक्षयामि। जग्ध्वा चाहं पीव इत् स्थूल एव भवामीति शेषः। किंच मे उभौ कुक्षी पृणन्ति सोमेन पूरयन्ति यष्टारः। सोऽहमिन्द्रः सर्वस्मादुत्तरः।
३. उक्षण उक्षतेवृद्धिकर्मणः। उक्षन्त्युदकेनेति वा।

उल्लेख है।[1] इस सूक्त के सप्तम मन्त्र में ही आये 'गाः' शब्द का अर्थ सायण ने "उदकानि" (जल) किया है। इस आधार पर प्रस्तुत मन्त्र में भी गावः के द्वारा गोपशु का उल्लेख न मानकर मेघ से काटकर अलग किया गया पृथिवी पर पड़ा हुआ जल समझना चाहिए।[2]

एक अन्य विद्वान् अगुइलार के अनुसार ऋग्वेद के एक मन्त्र का अर्थ निम्न-लिखित है—हे वाजो, ऋभुक्षो, इन्द्र और नासत्यौ, हमें वह धन अर्थात् घोड़ा लाकर दो। उपहारों के प्रभूत वितरण के लिए उसका वध करो।[3]

यहाँ स्पष्ट ही अनुवादक ने "सम् शस्त" शब्दों का अर्थ "वध करो" किया है। उनके अनुसार यह हिंसार्थक शस् धातु का लोट् लकार मध्यम पुरुष वहुवचन का रूप है। परन्तु यह ध्यान देने की वात है प्रशंसार्थक शंस् धातु का भी लोट् लकार मध्यम पुरुष वहुवचन में यही रूप वनेगा। धातुपाठ में यह "शंसु" पठित है। तद-नुसार यह अनिदित् है। लोट् म० पु० वहु० का "त" अपित् होने के कारण ङिद्वत् है। अतः पाणिनि के 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) सूत्र से शंस् के न् अथवा अनुस्वार का लोप होकर प्रस्तुत रूप प्राप्त होगा और अर्थ होगा—प्रशंसा करो। सायण का अर्थ भी यही है—सम्यगाशासनं कुरुत। यह आश्चर्य की वात है कि यह अर्थ सुलभ होते हुए भी वध-अर्थ किया गया है। सम्पूर्ण सूक्त की भावना को देखते हुए भी वध अर्थ की यहाँ संगति नहीं है। सूक्त के प्रथम मन्त्र में यज्ञ को अध्वर वताया गया है। दूसरे मन्त्र में यज्ञों को घी से युक्त (घृतनिर्णिज्) कहा है। चतुर्थ मन्त्र में ऋभुओं को स्वस्थ अश्वोंवाले (पीवो अश्वाः) कहकर सम्बोधित किया गया है।

हम देखते हैं कि असावधानी से किये गये इस प्रकार के अर्थों से वैदिक यज्ञों में हिंसा की भ्रान्ति उत्पन्न होती है।

इसी प्रकार एक अन्य विद्वान् सी० कुन्हन राजा का मानना है कि यद्यपि ऋग्वेद में मांस-भक्षण के सन्दर्भ अत्यल्प हैं, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि देवताओं को

---

१. शसने न गावः पृथिव्या आपृगमुया शयन्ते ।। (ऋ० १०।८९।१४) सायण—पृथिव्याः सम्वन्धिनि शसने विशसनस्थाने गावो न पशव इव आपृक् आपर्च-नाहताः सन्तः कनया पृथिव्या संगन्ता युद्धे शयन्ते शेरते।

२. वेदों में गोमांसभक्षण—एक विवेचन, सुरेन्द्रसिंह कादियाण, सिद्धान्ती अभि-नन्दन ग्रन्थ, पृ० ५०९-५२४

३. तं नो वाजा ऋभुक्षण इन्द्र नासत्या रयिम्।
समश्वं चर्षणीभ्य आ पुरुशस्त मघत्तये ।।—(ऋ० ४।३७।८)
O Vājas, Ṛbhukṣan, Indra, Nāsatyas, bring to us, men, that treasure, the horse, slaughter it for the sake of an abundant distribution of gifts.

पशुबलि अर्पित की जाती थी और मनुष्य भी पशुमांस खाते थे।[१] उनके मतानुसार ऋ० ६।१।३ में वपा भक्षण करनेवाले निरन्तर जाज्वल्यमान अग्नि का उल्लेख है। उनका तर्क है कि यदि अग्नि को वपावन् (वपा से युक्त) कहा गया है तो वपा अथवा मांस की आहुति उन यज्ञों में अवश्य दी जाती होगी।[२] एक अन्य मन्त्र (ऋ० ५।४३।७) के वपावन्तम् शब्द के विषय में इस विद्वान् का अनुमान है कि यह वपा (चर्बी) से युक्त किसी पकानेवाले पात्र का वाचक है, और यह (वपा—) पाचन उसे अग्नि में अर्पित करने के लिए ही होता होगा।[३]

ऋ० ८।१७।८ के आधार पर कुन्हन राजा ने यह निष्कर्ष निकाला है कि "अपने उदर में वपा लिये हुए शक्तिशाली भुजाओंवाला इन्द्र सब भयों को नष्ट करता है।" निष्कर्षतः इन्द्र के उदर में वपा या मांस केवल तभी हो सकता है यदि वह यज्ञों में अर्पित मांस को खाता हो।[४]

कुन्हन राजा द्वारा अपने निष्कर्षों को आधार बनाये गये उपर्युक्त तीनों मन्त्रों के सायण-भाष्य में कहीं भी वपा का अर्थ चर्बी अथवा मांस नहीं किया गया है, जब कि उसमें ऐसे अर्थ की सम्भावना थी। ऋ० ६।१।३ में "वपावन्तम्" अग्नि का विशेषण है, वहाँ सायण ने इसका कोई भाष्य नहीं किया। परन्तु ऋ० ५।४३।७ में कुन्हन राजा ने जो "वपावन्तम्" को पात्र का विशेषण माना है, वह अन्वय के अनुकूल नहीं है। अन्वय के अनुसार यह शब्द उपमान-रूप में है। तदनुसार, अर्थ होगा, "जैसे वपा से युक्त को अग्नि से तपाते हैं।" सायण के अनुसार "वपावन्तम्" का अर्थ है प्रवृद्धं पशुम् (बढ़े हुए पशु को)। दूसरे शब्दों में वपा वृद्धि है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार वपन किया गया, बोया गया पौधा बढ़ता है, उस प्रकार बढ़ा हुआ। ऋ० ८।१७।८ में भी "वपोदरः" शब्द का भाष्य सायण ने "पीवरोदरः"

---

१. In the case of eating of meat also, the references are very few in the Ṛgveda.... yet there is no doubt that animal food was offered to the gods and that men also ate animal food.
—द क्विटिसेंस ऑफ द ऋग्वेद, पृ० १२०

२. If fire is spoken of as Vapāvan (owner of Vapā), Vapā or flesh must have been offered to him at the rituals. (वही)

३. A vessel for cooking is spoken of as having Vapā in it and this cooking must be for offering it to the fire. (वही)
अञ्जन्ति यं प्रथयन्तो न विप्रा वपावन्तं नाग्निना तपन्तः।

४. Indra......with Vapā in his stomach, with strong arms, destroys all dangers....... There can be vapā or flesh in his stomach only if Indra eats flesh as offered at the rituals.
—दि क्विटिसेंस ऑफ द ऋग्वेद, पृ० १२०

(बड़े पेटवाला) किया है।

मैं० सं० में उल्लेख है कि वेदि बनाते समय दीमक द्वारा पृथिवी के अन्दर से लाई गई बांबी की गीली मिट्टी वेदि के स्थान पर बिछाता है।[1] यहाँ इस मिट्टी के लिए "वल्मीकवपा" शब्द प्रयुक्त हुआ है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वपा शब्द किसी वस्तु के गीले अंश के अर्थ में प्रयुक्त होता है। तदनुसार उपर्युक्त मन्त्रों में वपा का अर्थ घृत अथवा घी बनाकर बचा हुआ छाछ का अंश भी हो सकता है।

वप् (वपन करना, बोना) धातु के आधार पर वपा का अर्थ वपन-योग्य अथवा अन्न उपजाने योग्य भूमि अथवा बीज-वपन की क्रिया भी किया गया है।[2] तदनुसार महर्षि दयानन्द ने ऋ० ६।१।३ में वपावन्तम् का अर्थ किया है—"वह विद्यादिरूप अग्नि (ज्ञान) जिसमें विद्यारूपी बीज बोने के अनेक आधार हैं।"[3] ऋ० ५।४३।७ में उन्होंने इस शब्द को "विद्यारूपी बीज का विस्तार करनेवाले" विद्यार्थी के प्रसंग में बताया है।[4]

इसके अतिरिक्त कुन्हन राजा ने पशुबलि के प्रमाण में एक अन्य मन्त्र (ऋ० ८।४३।११) का अर्थ इस प्रकार किया है—"हम उस स्रष्टा अग्नि को ये स्तुतियाँ अर्पित करते हैं जिसका भोजन साँड है और जिसका भोजन गाय है।"[5] तदनुसार "इससे यह सिद्ध होता है कि साँड और गाय को मारकर उनके मांस की आहुतियाँ दी जाती थीं।"[6] उसके अनुसार ऋ० १०।९४।३ में कहा गया है कि "अभिपवण पाषाण गाते हैं, वे मधुर मधु को जानते हैं, वे पकाये जाते हुए मांस को देखकर शब्द करते हैं।"[7]

ऋ० ८।४३।११ में अग्नि के दो विशेषण "उक्षान्न" और "वशान्न" हैं। उक्षा का मूल अर्थ उक्ष् (सिंचनार्थक) धातु से सिंचन करनेवाला अर्थात् बलिष्ठ है

---

१. यद् वल्मीकवपामुत्कीर्याग्निमाधत्ते।
—मैं० सं० १।६।३ (वैदिक सिद्धान्त मीमांसा, पृ० ७६)

२. वपाम् वपनयोग्यां भूमिम्। —प्रियरत्न आर्ष, यम-पितृ परिचय, पृ० २८८

३. बहूनि वपनाधिकरणानि विद्यन्ते यस्मिंस्तम् अग्निं विद्यादिरूपम्।

४. विद्याबीजं विस्तारयन्तं विद्यार्थिजनम्।

५. To the fire who has the bull as food, who has the cow as food...the creator, we offer these songs. —विव ऋ०, पृ० १२१
—उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे स्तोमैर्विधेमाग्नये॥

६. This shows that the animal which is killed and whose flesh is offered is both a cow and a bull. —वही, पृ० १२१

७. They sing, they know the sweet honey; they make a noise at the sight of flesh that is cooked.
—एते वदन्सविदन्नना मधु न्यूङ्खयन्ते अधिपक्व आमिषि।

और वशा गाय है। अतः उक्षान्न का सेचन योग्य बनानेवाला अथवा "शक्तिवर्धक अन्न है जिसका" अर्थ सम्भव है। यहाँ सायण का भाष्य "उक्षान्नमदनीयं हविर्यस्य" और "वशान्नं यस्य" स्पष्टीकरण प्रस्तुत नहीं करता। ऋ० २।१५।५ में इन्द्र के विशेषण "वृषभान्न" के भाष्य में सायण ने स्पष्टीकरण किया है—"बलवर्षक अन्न वाला इन्द्र।"[1] जहाँ तक वशान्न का प्रश्न है वशा के मूल में वश् (कामना करना) धातु है। तदनुसार वशान्न का अर्थ "कमनीय अन्नवाला" होगा। अन्यथा भी जैसा कि यास्क ने गौः शब्द के प्रसंग में स्पष्ट किया है।[2] वशा शब्द का प्रयोग वशा के तद्धितार्थ में भी सम्भव है। तदनुसार "गो-घृत रूपी अन्नवाला" अर्थ भी हो सकता है। दूसरी ओर अग्नि की स्तुति अन्नोत्पादक अथवा अन्नप्रदाता के रूप में अनेक बार हुई है।[3] अतः अग्नि के लिए यह कहना सर्वथा ऋग्वेद की भावना के अधिक अनुकूल है कि उसके द्वारा प्रदत्त अन्न शक्तिवर्धक तथा कमनीय है।

ऋ० १०।९४।३ में जो पकाये गये मांस को देखकर अभिषवण पाषाणों के शब्द करने का उल्लेख है, सायण ने उसे उपमा के रूप में माना है, यज्ञगत आहुति के प्रसंग में नहीं। तदनुसार अर्थ है—"जिस प्रकार मांसभक्षक पके हुए मांस के प्रसंग में विशेष शब्द करते हैं, उसी प्रकार अभिषवण पाषाण शब्द करते हैं।"[4] इससे यज्ञ में मांस की आहुति की पुष्टि नहीं होती। दूसरी ओर यह भी स्पष्ट नहीं है कि यह शब्द कैसा है। ऊँख धातु पाणिनीय धातुपाठ में पठित नहीं है। समस्त ऋग्वेद में इसका प्रयोग केवल एक बार प्रस्तुत स्थल पर ही हुआ है। यह शब्द चिल्लाने, दुःखी होने का भी हो सकता है। आमिष् शब्द के मूल में अम् (रोगी होना) धातु है। तदनुसार मांस क्योंकि रोगोत्पादक है, अतः उसे देखकर रोने का भी भाव सम्भव है।[5] इसके अतिरिक्त यदि आमिष् का अर्थ मांस ही किया जाए तो अधिषवण पाषाणों के प्रसंग में यह कहना अधिक उचित होगा कि सोमलता पीसने पर उसका गूदा बन जाने पर वे विशेष शब्द करते हैं, क्योंकि मांस शब्द का अर्थ गूदा भी होता है।[6] मांस का अर्थ खीर भी है, क्योंकि श०ब्रा०में मांस को परमान्न

---

१. बलवर्षकाणि अन्नानि यस्य स तथोक्तः।

२. अथाप्यस्यां तद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति "गोभिः श्रीणीत मत्सरम्" इति पयसः—निः २।५

३. द्र० पुरूण्यन्ना सहसा वि राजसि।—ऋ० ५।८।५

४. यथा पक्वे आमिषि अधि आमिषे क्रव्यादो मांसभक्षकाश्च मांसविषये यथा न्यूंखयन्ते शब्दविशेषं कुर्वन्ति तद्वत् एते ग्रावाणः वदन्ति।

५. अमन्ति रोगिणो भवन्ति येनेति विग्रहे, अम रोगे धातोः टिषच् (उ० १।४६) मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी।

कहा गया है और अमरकोश के अनुसार यह परमान्न खीर है।[1]

कुन्हन राजा के अनुसार ऋ० १०.१६.४ में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह अपनी उष्णता से अंशों के रूप में आहुत बकरे को पकाये। अगले मन्त्र में ही अग्नि से उसे मृत पूर्वजों के पास ले-जाने की प्रार्थना की गई है। यहाँ स्पष्ट ही बकरे का मांस ले-जाना अभिप्रेत होगा।[2]

सायण-भाष्य के अनुसार ऋ० १०. १६. ४ का अनुवाद इस प्रकार होगा—हे अग्नि, इस मृत व्यक्ति का जो भाग जन्मरहित, शरीर के इन्द्रियादि भाग से भिन्न है तथा जिसे अन्तर्-पुरुष अथवा जीवात्मा कहा जाता है उसे अपने ताप से तृप्त करो।[3] इससे अगले मन्त्र को सायण ने मृत व्यक्ति से सम्बद्ध मानते हुए (बकरे से नहीं) अर्थ किया है—"हे अग्नि, जो यह मृत व्यक्ति मन्त्रों आदि के द्वारा तुझे समर्पित किया गया है उसे पूर्वज मृतकों की प्राप्ति के लिए प्रेरित करो।"[4]

यदि एक क्षण सायण-भाष्य को न भी स्वीकार किया जाए तो समस्त ऋग्वेद में जहाँ-जहाँ भी यह शब्द आया है, उन स्थलों से "बकरा" अर्थ की पुष्टि नहीं होती। अनेक स्थलों पर यह एकपाद् के साथ आकर "अज एकपाद्" नामक देवता को व्यक्त करता है, जिसका अर्थ यदि "एक पाँव वाला बकरा" किया जाएगा तो हास्यास्पद होगा।[5] जहाँ यह शब्द अकेला है, वहाँ भी या तो यह "अजन्मा" अर्थवाला विशेषण है या फिर जन्मरहित जीवात्मा का द्योतक है।[6] यजुर्वेद में भी यह

---

१. एतदु ह वै परममन्नाद्यं यन्मांसम्। —श० ब्रा० ११.७.१३.
परमान्नं तु पायसम्। —अमरकोश : २. ७. २४

२. The fire is asked to cook the goat offered as his portion with his heat. अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः। Later the fire is asked to carry that to the dead ancestors. What is to be carried must be the flesh of the goat mentioned in the previous mantras.—क्विटिसेंस ऑफ द ऋ०, पृ० १२१

३. अजः जननरहितः शरीरेन्द्रियादिभागव्यतिरिक्तोऽन्तर्पुरुषलक्षणो यो भागः अस्ति—हे अग्ने त्वदीयेन तपसा तपनेन तादृशं भागं तपस्व तप्तं कुरु।

४. हे अग्ने यः प्रेतः पुमान् आहुतः चितौ मन्त्रेण समर्पितः सन् स्वधाकार समर्पितैः उदकादिभिः सह चरति तं प्रेतं पितृप्राप्त्यर्थं भूयः प्रेरय।

५. ऋ० २.३१.६, ६ ५०.१४, ७.३५.१३, १०.६४.४, ६५.१३; ६६,११

६. ऋ० १।६७।५ (अजो न क्षां दाधार पृथिवीम्); १।१६२।२ (सुप्राङजो मेम्यद् विश्वरूपः), १०।१६२।४ (अत्रा पूष्णः प्रथमो भाग एति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदन्नजः), १।१६३।१२ (अजः पुरो नीयते—यह अजन्मा सबसे आगे ले-जाया जाता है, अर्थात् सबसे पहले उसका ध्यान करते हैं), ३.४५.२ (पुरां दर्मो अपामजः), ८।४१।१ (अज द्यामधारयत्)

शब्द प्रायः "अजन्मा (परमेश्वर) अथवा जीवात्मा" के अर्थ में आया है।[1] अथर्ववेद के प्रसिद्ध स्कम्भ सूक्त में भी इसी अर्थ को लेकर कहा गया है कि "जब अजन्मा सबसे पहले सत्ता में आया तो वह स्वराज्य अर्थात् अपने एकमात्र शासन को प्राप्त हुआ जिससे परे और कोई प्राणी नहीं है।"[2] अथर्व० ९.५.१८ में भी पके हुए बकरे से बलि की भ्रान्ति होती है, परन्तु इसके आगे एक मन्त्र छोड़कर अज का वर्णन परमेश्वर (स्कम्भ) जैसा है।[3]

कुन्हन राजा पुनः इस बात की पुष्टि करते हैं कि इस बात के प्रमाण हैं कि यज्ञों में अग्नि को पशुओं की आहुति दी जाती थी। यज्ञ में एक लकड़ी का स्तम्भ (यूप) गाड़ा जाता था। वह केवल उन पशुओं को बाँधने के लिए हो सकता है जिनका वध करके उनका मांस देवताओं को अग्नि में अर्पित किया जाता था। शुनःशेप तीन यूपों से बाँधे जाने पर अपनी शोचनीय अवस्था का वर्णन करता है। एक अन्य स्थान पर शुनःशेप के एक सहस्र खूँटों से बाँधे जाने का उल्लेख है।[4]

जहाँ तक शुनःशेप के तीन यूपों से बाँधे जाने के उल्लेख का सम्बन्ध है, मन्त्रगत शब्दों से यह बात सिद्ध नहीं होती। मन्त्र में "त्रिषु द्रुपदेषु बद्धः" शब्द हैं जिनका सामान्य अर्थ है "वृक्ष के तीन स्थानों पर बँधा हुआ।" समस्त सूक्त की भावना को देखते हुए इसका बलि से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता और न ही कहीं बलि का उल्लेख है। बार-बार वरुण से बन्धन से मुक्ति की प्रार्थना की गई है।[5] बार-बार

---

१. वा० सं० २९।२३ (अजः पुरो नीयते); २५.२५ (द्र० ऋ० १।१६२।२), २५. २७ (द्र० ऋ० १।१६२।४)

२. यदजः प्रथमं सम्बभूव स ह तत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम्॥
—अ० १०।७।३१

३. अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति। परन्तु—अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योर इयमभवद् द्यौः पृष्ठम्।

४. There is evidence to show that animals were offered to the fire at the rituals. At the ritual a wooden post was erected, that can be only for tying the animals which were to be killed and whose flesh was to be offered in the fire for the gods. Shunaḥshepa speaks about his precarious condition when he was tied to the three wooden posts—शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः। ऋ० १।२४।१३। Elsewhere Shunaḥshepa is spoken of as having been tied on to a thousand stakes.—शुनिश्चिच्छेपं निदितं सहस्राद् यूपादमुंचो अशमिष्ट हि षः। ऋ० ५।२।७
—दि क्वि० ऑफ ऋ०, पृ० १२२

५. सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु (१२); विद्वान् अदब्धो वि मुमोक्तु पाशान् (१३); उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय। (१५)

पाप अथवा कष्ट से मुक्ति की प्रार्थना की गई है।[1] सूक्त की समस्त भावना इसका प्रतीकार्थ जानने को प्रेरित करती है। द्रु संसाररूपी अथवा शरीररूपी वृक्ष है क्योंकि वह गतिशील (द्रु गतौ) अथवा नश्वर (दृ विदारणे) है। जिनके तीन स्थानों से वह मनुष्य (इन्द्रियसुखलोलुप) बँधा हुआ है उसकी वे तीन एषणाएँ वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा हैं अथवा भौतिक, पारिवारिक और सामाजिक मोह हैं जिनसे मुक्ति की कामना की गई है। ब्रह्ममुनि परिव्राजक के अनुसार यह शुनःशेप इन्द्रिय-सुखलोलुप जीवात्मा है जो वासनाओं से जकड़ा हुआ है और जो कारण, सूक्ष्म, स्थूल शरीररूप तीन खूँटों से बँधा हुआ, आदित्य अर्थात् अखण्ड सुख-सम्पत्तिरूप मुक्ति के स्वामी परमात्मा को मुक्ति के लिए पुकारता है।[2]

सायणभाष्य भी शुनःशेप के बलि के निमित्त तीन खूँटों पर बाँधे जाने की पुष्टि नहीं करता है। सायणभाष्य के अनुसार "लकड़ी के स्तम्भ के तीन स्थानों पर बँधे हुए शुनःशेप ने अदिति के पुत्र वरुण का आह्वान किया।"[3] प्रस्तुत सूक्त की भूमिका में भी सायण ने बलि का कोई उल्लेख नहीं किया। तदनुसार "राजसूय में अभिषेक के दिन मरुत्वतीय शस्त्र के समाप्त होने पर होता को इस सूक्त से आगे सात सूक्तों का उच्चारण पुत्रादि से परिवृत अभिषिक्त राजा के सम्मुख करना चाहिए।"[4]

जहाँ तक शुनःशेप के सहस्र खूँटों से बँधे होने का प्रश्न है, उस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि मन्त्र में यूप शब्द एकवचन में है, अतः सहस्र संख्या का वाचक नहीं हो सकता। इसी कारण सायणभाष्य में इसकी व्याख्या "अनेक रूपों वाले यूप से युक्त किया" की गई है।[5] यह भी ध्यान देने की बात है कि बँधे हुए शुनःशेप को मुक्त करने का उल्लेख इस मन्त्र में है। यदि शुनःशेप को बलि के पशु के रूप में बाँधा गया था, तो उसके इस प्रकार मुक्त किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता और वह भी (अग्नि) देवता द्वारा जिसको उस बलि का लाभ होनेवाला था। वस्तुतः यहाँ भी आध्यात्मिक अर्थ ही अभिप्रेत प्रतीत होता है। हमारे जीवन में अनेकों विषयोपभोग इच्छाएँ हैं जिनसे हम खूँटे के साथ पशु के समान बंधे रहते हैं। परम सुख प्राप्त करने के लिए उनसे मुक्ति की कामना मन्त्र में की गई है। सायण

---

१. कृतं चिदेनः प्र मुमुग्ध्यस्मत् (९), राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि (१४)
२. वैदिक वन्दन, पृ० २५
३. वन्धनाय गृहीतः त्रिसंख्याकेषु द्रुपदेषु द्रोः काष्ठस्य यूपस्य पदे प्रदेशविशेषेषु वद्धः।
४. राजसूयेऽभिषेचनीयेऽह्नि मरुत्वतीय परिसमाप्ते सति एतदादिकं सूक्तसप्तकम् अभिषिक्तस्य पुत्रादिभिः परिवृतस्य राज्ञः पुरस्तात् होत्राख्यातव्यम्।
५. अग्ने, नितरावद्धं शुनःशेपमृषिं सहस्रात् अनेकरूपात् यूपात् अमोचयः।

द्वारा मन्त्र की भूमिका में उल्लिखित विनियोग में भी आहवनीय की उपासना का निर्देश है, बलि का नहीं ।[1]

यही महाशय एक अन्य मन्त्रांश (ऋ० १०।२७।१७) का अर्थ करते हैं— "वीरों ने एक मोटे बकरे को पकाया ।"[2] यहाँ सायणभाष्य से भी उनके अर्थ की पुष्टि होती है ।[3] परन्तु महाभारत में निर्देश है कि वेद में जहाँ अज या बकरे की बलि का उल्लेख है वहाँ वस्तुतः अज नामक बीजों से यज्ञ अभिप्रेत है । वहाँ बकरे की बलि नहीं दी जानी चाहिए ।[4] अज नामक बीजों की विशेषता बताते हुए वायु-पुराण में कहा गया है कि ये वे बीज हैं जो तीन वर्ष पुराने हों और जो अंकुरित न हो सकते हों ।[5] इसी प्रकार महाभारत में अन्यत्र बताया गया है कि यह सुना जाता है कि पुराने समय में व्रीहि का पशु (अर्थात् चावल के आटे का पशु) बनाया जाता था और उससे पुण्य लोकों के इच्छुक यजमान यज्ञ करते थे ।[6] अतः उपर्युक्त मन्त्र में बकरे के पकाने का उल्लेख न मानकर, व्रीहिमय पशु मानना अधिक उचित प्रतीत होता है । समस्त सूक्त की भावना भी उसके ही अनुकूल है ।

एक अन्य मन्त्र में[7] पशुबलि का उल्लेख मानते हुए कुन्हन राजा ने उसका अर्थ इस प्रकार दिया है—"जिसे घोड़ों, भैंसों, साँडों, गौओं और बकरे की आहुति दी गई थी, उस अग्नि में ।"[8] एक अन्य मन्त्र में[9] उल्लेख है कि उसने इन्द्र के लिए सौ भैंसों को पकाया ।[10]

---

१. अंजसवे आहवनीयोपस्थाने शुनश्चिच्छेपमित्येषा ।

२. The heroes cooked a fat goat. पीवानं मेषमपचन्त वीराः ।
—क्वि० ऋ०, पृ० १२२

३. प्रजापतेः पुत्राः अंगिरसः स्थूलं मेदोमांसादियुक्तमित्यर्थः मेषम् अजम् अपचन्त ।

४. अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि छागान्नो हन्तुमर्हथ ॥ —महा० शान्ति० ३३७-४

५. यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ येषु हिंसा न विद्यते ।
त्रिवर्षपरमं कालमुषितैरप्ररोहिभिः ॥ —वा० पु० ५७-१००-१०१

६. श्रूयते हि पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः ।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ॥ —महा० अनु० ११५-४६

७. यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः ॥
—ऋ० १०।९१।१४

८. For whom horses, buffaloes, oxen, cows and goats were brought and offered in that fire. —क्वि० ऋ०, पृ० १२२

९. शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम् ॥ —ऋ० ८।७७।१०

१०. He cooked a hundred buffaloes for Indra. —वही, पृ० १२२

ऋ० १।१६४।४३ में वीरों द्वारा धब्बोंवाले साँड के पकाये जाने का उल्लेख है[1] और एक पूर्ण सूक्त (ऋ० १।१६२) अश्वबलि से सम्वद्ध है।[2]

यहाँ सभी पशुओं के सम्बन्ध में तैत्तिरीय ब्राह्मण की उक्ति स्मरणीय है जिसके अनुसार, पशु पुरोडाश ही है।[3] यजुर्वेद में अग्नि, वायु और सूर्य को पशु बताया गया है और उनके द्वारा यज्ञ करने का उल्लेख है। वस्तुतः ये उक्तियाँ सृष्टियज्ञ से सम्वद्ध हैं। अथर्ववेद में भी भिन्न-भिन्न पशुओं को भिन्न प्रकार की ओषधियाँ बताया गया है।[4] इसके अनुसार अश्व से अभिप्राय चावल के कण हैं, गौ (साँड) चावल हैं, मशक भूसी हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी अश्व को राष्ट्र तथा वीर्य बताया गया है।[5]

शतपथ ब्राह्मण की इस उक्ति से ही ऋ० १।१६२ की अश्वबलि का स्पष्टीकरण हो जाता है—"अश्वमेध का अर्थ देशवासियों के वीर्य तथा बल की वृद्धि करना तथा राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए प्रयास करना ही शास्त्रानुमोदित है।" यजुर्वेद (२३।१९-४०) के जिन मन्त्रों का अश्वमेध में विनियोग करके महीधरादि ने उनके अत्यन्त अश्लील अर्थ करके वेदों को कलंकित किया है, उनमें कहीं भी अश्व की हत्या का उल्लेख नहीं है। वस्तुतः इन मन्त्रों के देवता गणपति, राजप्रजे, प्रजापति, प्रजा, श्री, विद्वांसः, सभासदः आदि हैं। इससे स्पष्ट है कि इन मन्त्रों का वर्ण्य विषय राष्ट्र और उसकी शासन-व्यवस्था है।[6]

ऋ० १।१६२ के प्रसंग में भी प्रथम मन्त्र के भाष्य में सायण ने बताया है कि जिस अश्व का वर्णन इस सूक्त में है वह बहुत देवताओं के रूप में उत्पन्न वेगवान् या बहुत अन्न से युक्त आदितत्त्व है जिसका उषा आदि सिर आदि अवयव बताया गया है। अथवा, गन्धर्वों के कुल में उत्पन्न होने के कारण इसे देवताओं से उत्पन्न (देवजातस्य) कहा गया है।[7] इसी सूक्त के तृतीय मन्त्र में जिस बलि योग्य बकरे का

---

१. उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीराः—The heroes cooked the spotted bull.
वही, पृ० १२२

२. There is whole song relating to the horse to be sacrificed.
वही

३. पशवो वै पुरोडाशः। —तै० ब्रा० १।८।३।३

४. अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः। —अथर्व० ११।३।५
तथा—धाना धेनुरभवद्वत्सोऽस्यास्तिलोऽभवत्। —वही, १८।४।३२

५. राष्ट्रं वा अश्वमेधः। वीर्यं वा अश्वः। —श० ब्रा० १३।१।६।३

६. स्वा० विद्यानन्द, भूमिकाभास्कर, पृ० ३९

७. वाजिनः वेजनवतो बह्वन्नवतो वा देवजातस्य बहुदेवतास्वरूपेणोत्पन्नस्य। उषा आदीनामस्य शिर आद्यवयवत्वादिति भावः। उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः(बृ० ३।१।१।१) इत्यादि श्रुतेः यद्वा देवेभ्यो जातस्य गन्धर्वकुले उत्पन्नत्वात्।

वर्णन है उसे देवताओं का प्रिय पुरोडाश बताया गया है।[1] चतुर्थ मन्त्र में बकरे को पूषा का प्रथम भाग अर्थात् सूर्योदय से पूर्व रात्रि का अन्धकार बताया गया है। इस देवमार्गवाले सूर्यरूप दिव्य अश्व को मनुष्य ऋतुओं के अनुसार तीन बार चारों ओर ले-जाते हैं अर्थात् एक वर्ष में तीन रूपों में (ग्रीष्म, वर्षा, सरदी) इसे जानते हैं।[2] सप्तम मन्त्र में भी जहाँ अश्व को देवताओं के पोषण के लिए अच्छा बन्धु तथा देवताओं की आशा पूर्ण करनेवाला, सुन्दर पृष्ठवाला या दीप्तिमान् बताया गया है, वहाँ भी सम्भवतया सूर्य ही अभिप्रेत है।[3] इसमें कोई सन्देह नहीं कि नवम से द्वादश मन्त्र तक अश्व को वध करनेवाले, उसके अवयवों, रक्तादि तथा मांसादि का उल्लेख दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में अश्व के अवयवों से किन तत्त्वों का अभिप्राय है, यह बात बृहदारण्यकोपनिषद् में स्पष्ट की गई है। तदनुसार, मेध्य अश्व का सिर उषा है, सूर्य उसकी दृष्टि है, वायु प्राण है, खुला हुआ मुख वैश्वानर अग्नि है, वर्ष घोड़े की आत्मा है, द्युलोक उसकी पीठ है, अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी पैर रखने का स्थान है, दिशाएँ उसके पार्श्व हैं, मध्य दिशाएँ पसलियाँ है, ऋतुएँ अंग हैं, मांस और पक्ष जोड़ हैं, रात्रि और दिन प्रतिष्ठा (पाँव) हैं, नक्षत्र अस्थियाँ और आकाश उसका मांस है, रेत उसका ऊवध्य अर्थात् पेट में अधपचा अन्न है, नदियाँ गुदा हैं, पर्वत यकृत् और तिल्ली हैं, ओषधियाँ और वनस्पतियाँ उसके लोम हैं, उदय होता हुआ दिन का पूर्वार्ध नाभि से ऊपर का भाग, नीचे जाता हुआ दिन का उत्तरार्ध कटि से नीचे का भाग है। जो बिजली का चमकना है, वह अश्व का जम्हाई लेना है। जो मेघ-गर्जन है, वह अश्व का शरीर हिलाना है। जो वर्षा है वह उसका मूत्र-विसर्जन है और वाणी ही उसकी वाणी है।[4] इस अवयव-समीकरण से अश्व का सूर्य होना स्पष्ट है।

---

१. एष छागः······अभिप्रियं यत्पुरोडाशं······जिन्वति।

२. यद्धविष्यमृतुशो देवयानं त्रिर्मानुषाः पर्यश्वं नयन्ति।
अत्रा पूष्णः प्रथमो भाग एति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नजः॥

३. उप प्रागात्सुमन्मेऽधायि मन्म देवानामाशा उपवीतपृष्ठः।
अन्वेनं विप्रा ऋषयो मदन्ति देवानां पुष्टे चकृमा सुबन्धुम्॥

४. उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिश पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शवः ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि। ऊवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानुद्यन्पूर्वार्धो निम्लोचनं जघनार्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक्॥—बृ० उप० १।१।१

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत सूक्त के उन्नीसवें मन्त्र[1] की व्याख्या करते हुए सायण ने भी इसे सूर्य मानकर इसका वध करनेवाला एक ऋतु अथवा काल बताया है और वध के समय उसे पकड़कर रखनेवाले दो रात और दिन हैं अथवा द्युलोक और पृथिवी हैं।[2] इसी सूक्त की इक्कीसवीं ऋचा में अश्व को सम्बोधित करके कहा गया है कि तू मरता नहीं है, तुझे कष्ट नहीं होता है, तू सुगम मार्गों से देवों के पास पहुँचता है।[3] परन्तु अश्वमेध में जिसका वध किया जाता है, वह अश्व मरता है। दूसरी ओर इस ऋचा में घोड़े की मृत्यु का अभाव बताया गया है। वस्तुतः इस ऋचा में सूर्यरूपी अश्व का वर्णन है, क्योंकि वह अस्त होने पर भी न तो अपना स्वरूप छोड़ता है और न ही नष्ट होता है; दूसरे दिन उदय होता हुआ वह प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। यही भाव दूसरे शब्दों में ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रकट किया गया है, जैसे कि ऐ०ब्रा० में कहा गया है कि "यह कभी अस्त नहीं होता, न उदय होता है⋯वह यह कभी नीचे भी नहीं गिरता है।"[4] स्वामी दयानन्द के अनुसार इस सूक्त में अश्वपालन का उपदेश और बिजली के प्रयोग का उपदेश दिया गया है।

देवप्रकाश पातंजल ने भी अपनी पुस्तक "ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ ऋग्वेद १।१३७-१६३" में इस सूक्त में पशुवलि का प्रवल निराकरण किया है। तदनुसार इस सूक्त का अश्व भौतिक-पार्थिव अश्व—पशु नहीं है, परन्तु ऋभुओं द्वारा अश्व से वनाया गया अश्व (अश्वादश्वम् अतक्षत ऋ० १।१६१।७) अर्थात् 'किरणें' हैं। हिरण्यगर्भ के निर्माण के पश्चात् ऋभुओं ने उसके चार भाग अर्थात् द्युलोक, पृथिवी, सूर्य और चन्द्रमा किये। इन चारों में चार प्रकार की किरणें थीं। वेद-मन्त्रों में कहीं भी अश्वपशु को काटने का विधान नहीं है। अश्व तथा उसके अवयवों के माध्यम से प्राकृतिक क्रियाओं का वर्णन किया गया है। प्रायः वेदमन्त्रों में इस

---

१. एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता द्वा यन्तारा भवतस्तथ ऋतुः।

२. त्वष्टुः अस्य दीपस्य अश्वस्य विशस्ता विशसनकर्त्ता एक एव। स कः ? ऋतुः एतदुपलक्षितः कालात्मा तस्यैव सर्वेषामपि पर्यवसितृत्वात्। तथा द्वा यन्तारा नियमयितारौ अहोरात्रे देवौ द्यावापृथिव्यौ वा।

३. न वा उ एतन् म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः।

४. अश्वमेधे आलभ्यमानोऽश्वो म्रियते। अस्यामृचि तु न वा उ एतन् म्रियसे इति पदैः स्पष्टमेवाश्वस्य मृत्योरभाव उक्तः। वस्तुतस्त्वस्यामृचि सूर्यरूपस्याश्व-स्यैव वर्णनं विद्यते। यतो हि सोऽस्तंगतोऽपि न स्वरूपं जहाति, न च रिष्यति। अपरदिने स एव पुनरुदीयमानः प्रत्यक्षमुपलभ्यते। अयमेवाभिप्रायः प्रकारा-न्तरेण ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रकटीकृतः। तथा हि—स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति⋯स वा एष न कदाचन निम्लोचति।

—(ऐ० ब्रा० १४।६) श्रौतयज्ञमीमांसा, पृ० ८१

प्रकार के आलकारिक रूपक-मूलक वर्णन हैं अथवा इसके विपरीत प्राकृतिक क्रियाओं को पशुओं आदि का प्रतिरूप बनाया गया है। दुर्भाग्यवश इन रूपकों को तथा वेद की मूल भावना को न समझने के कारण परवर्ती अश्वमेध को प्रचलित कर दिया गया।[१] इस सूक्त के नवम मन्त्र में आये क्रविष् शब्द की व्याख्या के सन्दर्भ में पातंजल ने ऋ० १।१६१।१० में आये मांस शब्द के प्रति संकेत किया है, जिसका अर्थ उनके अनुसार मेघ अथवा जल की गूदे या मांस जैसी व्यवस्था है। तदनुसार क्रविष् मेघ-निर्माण की पूर्वावस्था होगा। मांस का निर्वचन यास्क द्वारा मन् धातु से किया गया है, क्योंकि वह (अपना मांस)सबके द्वारा सम्मानित होता है। एक अन्य निर्वचन के अनुसार मांस मानस अथवा मन है, क्योंकि मन उसे चाहता है अथवा मन उसके प्रति जाता है (मनस्+सद्) अर्थात् सब अपने मांस को चाहते हैं, उससे स्नेह करते हैं और इसीलिए उसकी रक्षा के ही उपाय नहीं करते अपितु उसकी वृद्धि के उपाय भी करते हैं।[२]

इस सम्बन्ध में विश्व के क्रमिक विकास को भी ध्यान में रखना होगा। तदनुसार आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी और पृथिवी से ओषधियाँ उत्पन्न हुईं—'आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः'—इससे प्रकट है कि अग्नि (अश्व) के जन्म के पश्चात् जल अस्तित्व में आया। यह जल पृथिवी पर सहस्रों वर्षों तक गिरता रहा और उससे

---

१. As a matter of fact Aśva is not an animal but the one that was fashioned by the Ṛbhus from Aśva (i.e. rays). After the formation of Hiraṇyagarbha, the Ṛbhus divided it into four parts (heaven, earth, sun and moon). In these four parts there were four kinds of rays (Aśva)......There is not injunction in the vedic texts for the actual cutting of the horse into pieces—not even in the present hymn (R.V. I. 162). The natural phenomena are described in terms of an earthly horse and his limbs. It is a natural practice of the poets to describe natural phenomena in terms of earthly objects and vice versa. Unfortunately this comparison led to the later institution of horse-sacrifice evolved by those who failed to appreciate the simile and the spirit of the poets.

—क्रिटि० स्टडी० ऋ०, पृ० ४०३

२. मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा। —निरुक्त ४।३

समुद्र वना। इस आदि-मेघ की प्रक्रिया को वेद में अश्वमेध यज्ञ के रूपक द्वारा समझाया गया है।[1]

कुन्हन राजा ने स्वयं आगे चलकर यह स्वीकार किया है कि देवों को सोम और मधु तो प्रिय बताया गया है, परन्तु ऐसा उल्लेख कहीं भी नहीं है कि देव पशु-मांस खाकर आनन्दित होते हों। तथापि इस विद्वान् का निष्कर्ष यही है कि देवों को पशुओं की आहुति अवश्य दी जाती थी।[2] इसको पूर्वाग्रह अथवा पाश्चात्य भाष्यों का अनुकरण ही कहा जायेगा।

ऊपर दिये गये अनेक उदाहरणों से यह भी स्पष्ट होता है कि इन महोदय ने बहुत बार सायण की भी अवहेलना की है। जहाँ सायण ने भी पशुबलि का समर्थन नहीं किया, वहाँ भी इन्होंने पशुवलि मान ली है, परन्तु वेदों की पूर्ण भावना पशु-बलि का समर्थन नहीं करती।

के० आर० पोतदार ने भी सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया है कि निश्चयपूर्वक ऋग्वेद में सामान्य पशुयज्ञ की स्थापना नहीं की जा सकती। उनके अनुसार यह ध्यान देने योग्य है कि यज्ञीय पशु के अत्यन्त विरले उल्लेख हैं और पशु-सम्बन्धी आहुतिद्रव्य का उतना विस्तृत सांगोपांग वर्णन उपलब्ध नहीं होता जितना घृत और सोम की आहुतियों का प्राप्त होता है।[3] उनका यह भी कहना है कि केवल एक

---

१. Now as regards the word Kraviṣ, which is usually translated as āmam-mānsam (raw flesh), we refer to the word mānsa, which means 'a cloud' (cf R.V. I. 161.10). Therefore Kraviṣ must denote the early stage of cloud-formation. In this connection the gradual evolution of the universe, is also to be considered. This shows that waters (āpaḥ) came into being after the birth of Agni (aśva). These waters fell on this earth for thousands of years and created the ocean. This phenomena of primeval cloud is explained in the Veda by the allegory of horse-sacrifice.—क्रिटि० स्टडी० ऋ०, पृ० ४०४

२. Gods are spoken of as fond of Soma and honey. But there is no such reference to the delight which the gods take in eating the flesh of animals. Yet it is certain that animals were offered to the gods. —क्वि० ऋ०, पृ० १२२

३. The existence of a common animal sacrifice cannot be said to have been conclusively established. It may be noted that the sacrificial beast is very rarely referred to and the details of animal offering are not available to the same extent as those of the offerings of ghṛta and soma.
—सेक्रीफ़ाइस इन द ऋग्वेद, पृ० ११७

अश्वमेध सूक्त (१।१६२) के आधार पर ऋग्वेद-काल में पशु-यज्ञ की सामान्य प्रवृत्ति का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।[१]

फिर भी उन्होंने कुन्हन राजा द्वारा प्रदत्त पशु-यज्ञ के सन्दर्भ तो दिये ही हैं जिनका ऊपर खण्डन किया जा चुका है, इसके अतिरिक्त दो नये सन्दर्भ भी दिये हैं। एक सन्दर्भ के अनुसार अग्नि के द्वारा रोगरहित अनमीव भोजन की स्वीकृति के द्वारा सम्भवतया पशु आहुति संकेतित होती है।[२] दूसरे सन्दर्भ में आहुति के रूप में पशु की चर्वी का उल्लेख है।[3]

प्रथम सन्दर्भ में सायण के अनुसार अग्नि से स्तोताओं को रोगादि से रहित महान् ऊर्जा अन्न को प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।[४]

यदि अनमीवा का सम्बन्ध जुषन्ताम् के साथ भी माना जाये तो भी यहाँ ऐसा अन्न अभिप्रेत है जो रोगजनक न हो, अर्थात् अग्नि को जिस व्रीहि आदि अन्न की आहुति दी जाये वह सड़ा-गला रोगजनक नहीं होना चाहिए। वही महान् है। अग्नि उसे स्वीकार कर वायु शुद्ध करके रोगों को दूर करता है। द्वितीय सन्दर्भ में यद्यपि सायण के भाष्य से पशुवलि सिद्ध होती है क्योंकि उसके अनुसार यह पशुयाग में चर्वी की आहुति के लिए अग्नि का आह्वान है।[५] परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि मेदसः शब्द से अगला ही शब्द मन्त्र में घृतस्य है, अतः यह स्पष्ट है कि घृत का वर्णन यहाँ स्निग्ध पदार्थ के रूप में है। सम्पूर्ण सूक्त में घृत का ही वर्णन है—पशुवलि का कोई संकेत नहीं। इसके विपरीत मेदस् के विन्दुओं को घृतवाले (घृत-

---

१. Merely on the basis of the Aśvamedha hymn (1.162) inference cannot be drawn about the common prevalence of the animal sacrifice in the days of the Ṛgveda. (वही)

२. At III-22.4 (Juṣantām anamīvā iṣo mahīḥ) the acceptance of the undiseased(anamīvāḥ)food by fires very possibly indicates the animal offering. Pressing-stones are said to be associated with the cooked flesh at X-94.3 (nyūṅkhayante adḥ pakva āmiṣi.
—वही, पृ० ११८

३. III. 21. also refers to the drops of animal fat as offering.
—(cf. IV. 2.5) वही, पृ० ११८

४. पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः। जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवा इषो महीः॥ अद्रोग्धारो यूयम् अनमीवाः रोगादिवर्जिताः महीः महत्यः इषः ऊर्जाः रोगादिरहितान्यन्नान्यस्मभ्यं प्रयच्छत।

५. हे अग्ने, इमं यज्ञं पशुयागं देवेषु समर्पय (१), मेदसः वपाख्यस्य हविषः घृतस्य च विन्दून् भक्षय (१), घृतोपेताः मेदोरूपस्थ हविषः विन्दवः क्षरन्ति (२), घृतयुक्तमेदोविन्दुभिः प्रज्वाल्यसे (३), मेदोरूपस्य हविषः घृतस्य विन्दवः स्रुवन्ति (४), मेदः वपाख्यं हविः मध्यतः पशोर्मध्यभागात् उद्धृतं ते तुभ्यं प्रयच्छामः (५)।

वन्तः) कहा गया है।[1] बूंदों को घृत में से टपकनेवाली (घृतश्चुतः) कहा गया है।[2] अतः यहाँ चर्बी के स्थान पर घृत का अर्थ लेना ही सम्पूर्ण सूक्त की भावना के अधिक अनुकूल है। पोतदार द्वारा संकेतित एक अन्य मन्त्र[3] में भी "गोमान्, अविमान्, अश्वी" विशेषणों से यज्ञ के गौओं, भेड़ों और अश्वों की आहुतियों से युक्त होने की भ्रान्ति होती है, परन्तु ध्यान देने की बात है कि इसी मन्त्र में यज्ञ को इडावान् (अन्न से युक्त अथवा अन्न की वृद्धि करनेवाला) भी कहा गया है। यदि गोमान्, अविमान् और अश्वी का अर्थ इन पशुओं की आहुतियों से युक्त किया जाये तो क्या मन्त्र के "प्रजावान्" का अर्थ प्रजा की आहुतियों से युक्त और "सभावान्" का अर्थ सभा की आहुतियों से युक्त करेंगे? वस्तुतः यहाँ मतुप् प्रत्यय के दो भाव हैं। एक भाव के अनुसार यज्ञ का गौओं, भेड़ों, घोड़ों, इडा से युक्त होने का अर्थ है, परिणाम में इनसे युक्त होना अर्थात् यज्ञ इन सबका प्रदाता है। यज्ञ से वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्राणी—यह सर्वमान्य क्रम है। दूसरे भाव के अनुसार प्रजा और सभा से युक्त होने का अर्थ है प्रजा अर्थात् बन्धु-बान्धवों तथा सभा अर्थात् जनसामान्य का वहाँ उपस्थित होना। सम्पद्यमान यज्ञ को देखने के लिए सब आएँगे तो उन्हें एक ओर मानसिक शान्ति प्राप्त होगी तो दूसरी ओर यज्ञ की प्रेरणा भी मिलेगी।

सम्भवतया पशुयाग के अत्यल्प उदाहरणों और उनकी अनिश्चितता के कारण पोतदार महोदय को यह कहने को बाध्य होना पड़ा कि इन (पशुयाग के) अत्यल्प सन्दर्भों से पशु-याग की सामान्य प्रवृत्ति का आभास नहीं होता। यदि पशुयागों की सामान्य प्रवृत्ति होती तो अपने आस-पास प्रवर्तमान यज्ञानुष्ठानों के अवलोकन करते हुए तथा अभिनव रचनाओं के लिए उनसे प्रेरणा ग्रहण करनेवाले कवियों ने पशुयागों का और अधिक वार उल्लेख किया होता।[4]

पोतदार महोदय ने आगे चलकर प्राचीन काल में पशुयाग का अभाव मानने के निम्नलिखित सात कारणों का परिगणन किया है—

१. ऋ० ३।२१।२—घृतवन्तः पावक ते स्तोकाः श्चोतन्ति मेदसः।

२. तुभ्यं स्तोका घृतश्चुतोऽग्ने विप्राय सन्त्य।—ऋ० ३।२१।४

३. गोमाँ अग्नेऽविमाँ अश्वी यज्ञो नृवत्सखा सदमिदप्रमृष्यः।
इळावाँ एषो असुर प्रजावान्दीर्घो रयिः पृथुबुध्नः सभावान्॥ —ऋ० ४।२।५

४. These few references do not give an impression of the animal offerings being prevalent commonly. The poets observing the sacrificial performances going on round about and deriving inspiration from them for fresh compositions, would certainly have referred to the animal offerings more frequently if they were in vogue. —सेक्रि० इन ऋग्वेद, पृ० ११८

(क) वन्धनार्थ यूप के उल्लेख विरले हैं।

(ख) देवस्तुतियों में घी और सोम की आहुतियों का प्रायः उल्लेख है परन्तु पशुओं की आहुतियों का नहीं है।

(ग) ब्राह्मण ग्रन्थों में पशुयाग में आप्ती सूक्तों का बलात् विनियोग किया गया है क्योंकि अर्थ को देखते हुए उनके मन्त्र पशुयाग से सम्बद्ध नहीं हैं।

(घ) जिस प्रकार सोम की आहुति तैयार करने का उल्लेख है, उस प्रकार पशु-हवि तैयार करने की विधि नहीं बताई गई।

(ङ) अन्य आहुतियों के आधार पर देवताओं के विरुद हैं, परन्तु पशु-बलि के आधार पर नहीं हैं।

(च) यज्ञ में जिस पवित्रता का ध्यान रखा जाता है, वह पशुयाग में सम्भव नहीं है।

(छ) सोम के साथ पशुयाग के ब्राह्मणगत उल्लेख से विद्वानों को पशुयाग के अस्तित्व के विषय में भ्रान्ति हुई, परन्तु ऋग्वेद में सोम के साथ कहीं भी पशुबलि का उल्लेख नहीं है।[1]

इस विद्वान् ने आगे चलकर ऋग्वेद में पशुयाग का खण्डन करते हुए यह भी कहा है कि पुरोहितों द्वारा आहुतियों में इन्द्र अथवा वायु को समर्पित सोम के साथ जिन गौओं का उल्लेख है उनसे केवल दूध, स्तुतियाँ और पवित्र पेय तैयार करने के लिए प्रयुक्त जल अभिप्रेत है। यही बात उन पत्नियों (गौओं) के विषय में भी संगत है जिनके साथ पुरोहित पुरुष सोम का संयोग कराता है।[2]

समस्त वैदिक यज्ञों को सृष्टियज्ञ बताते हुए पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने पशुओं को आसुरयज्ञ अथवा सृष्टिपूर्व का विनाशक पक्ष माना है। तदनुसार "सृष्टि-प्रक्रिया में सर्जन भी और पूर्व-वस्तुओं का विनाश भी होता है। अतः सृष्टियज्ञ के क्रिया-कलाप के वर्णन में सर्जन और विनाश, दोनों का निर्देश होना आवश्यक है।"[3]

जहाँ पुरुषसूक्त में यज्ञ द्वारा यज्ञ किये जाने का उल्लेख है (यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः—वा० सं० ३१।१६) वहाँ यज्ञ अग्नि का वाचक है। अन्यत्र अग्नि को पशु बताया गया है (वा० सं० २३।१७)। यह अग्नि वस्तुतः हिरण्यगर्भरूपी महदण्ड

---

१. वही, पृ० १३५

२. The cows which accompany soma, offered by the priests of Indra, VIII. 3.1–13, 14; 81.3; 82.6 or to vāyu, 1.134.2, can only be milk, prayers and also the waters used for the preparation of the holy-drink. The same observation holds good in the case of wines with whom the priest brings about a union of the "male" Soma IX. 6.6.

—सेक्रि० इन ऋ०, पृ० १३६

३. वैदिक सिद्धान्त मीमांसा, पृ० ३६२

है।[1] इसी अग्नि को तीन भागों में बाँटकर देवों ने द्यु, अन्तरिक्ष और पृथिवी में स्थापित किया।[2] यही अग्निरूपी पशु का आलम्भन अथवा उसकी बलि है। इसी प्रकार वायु नामक पशु भी अनेक रूपों में विभक्त ग्रहोपग्रहों के निर्माण में सहायक होता है।[3] इसी वायु का कार्य-भेद या स्थान-भेद से उनचास मरुतों के रूप में विभाजन होता है।[4] आदित्य-पशु की बलि की कथा बहुत रोचक है। जब अपने सर्जन के पश्चात् सूर्य अपने स्थान पर स्थिर हो गया तो सूर्य के जाज्वल्यमान भाग पर उसी प्रकार मैल जम गया जैसे पिघले हुए लोहे पर कुछ समय पश्चात् मैल जम जाता है। उससे सूर्य का प्रकाश अवरुद्ध हो गया। इसे तै० सं० में स्वर्भानु असुर द्वारा सूर्य का तम से वींधना कहा गया है।[5] सूर्य के इस दोष का निवारण दैवी शक्तियों ने चार चरणों में पूर्ण किया। प्रथम बार जिस आवरण को दूर किया वह कृष्णवर्ण की भेड़ बनी, दूसरी बार वह आवरण लाल वर्ण का था, तीसरी बार जिस आवरण को हटाया वह श्वेत वर्ण की अवि थी और अन्त में अस्थि के ऊपर अर्थात् अन्तभाग के जिस आवरण को हटाया वह वशा अवि हुई।[6] अब उस वशा अवि का आदित्यों की कामना के लिए आलभन किया। उससे पृथिवी फैली, उसपर ओषधियाँ उत्पन्न हुईं। वशा (वन्ध्या) का अर्थ है कि उस समय पृथिवी पर घास, तृण कुछ भी पैदा नहीं हुए थे। पृथिवी को अवि (भेड़) कहने का अभिप्राय यह है कि वह अवि के समान पिल-पिली अथवा नरम थी। इसे ही वा० सं० २०।१२ "अविरासीत् पिलिप्पिला"

---

१. आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
—ऋ० १०।१२१।७

२. स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनन् शक्तिभिः रोदसिप्राम्।
तमू अकृण्वंस्त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः॥
—द्र० वै० सि० मी०, पृ० ३७०; ऋ० १०।८८।१०

३. जैसे इस शरीर में गर्भावस्था में एक ही प्राणवायु दशधा विभक्त होकर शरीर-अवयवों के निर्माण में सहयोग देता है, वैसे ही ग्रहोपग्रहों के निर्माण में एक ही वायुतत्त्व अनेकधा विभक्त होकर सहायक होता है—वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥ (ऋ० १।२।१) —वही, पृ० ३७१

४. वही

५. स्वर्भानुरसुरः सूर्यं तमसाविध्यत्। (तै० सं० २।१।२) स्वः सूर्यस्य भां प्रकाशं नुदति अपसारयति इति स्वर्भानुः। (वै० सि० मी०, पृ० ३७२-७४)

६. तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छन्, तस्य यत् प्रथमं तमोऽपाघ्नन् सा कृष्णाविरभवत्, यद् द्वितीयं सा फल्गुनी, यत् तृतीयं सा वलक्षी, यद्ध्यस्थाद् अपाकृन्तन् सा-विर्वशा समभवत्। (तै० सं० २.१.२) द्र० वै० सि० मी० पृ० ३७३

शब्दों से कहा है।[१]

पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक का पशुयज्ञों के सम्बन्ध में निष्कर्ष यह है कि श्रौत-यज्ञ सृष्टियज्ञ के रूपक हैं। प्राचीन घटनाओं के रूपक जो नाटकरूप में प्रस्तुत होते हैं, उनमें और सब घटनाओं का निदर्शन तो यथावत् होता है, परन्तु युद्ध में वध-बन्धन आदि का निदर्शन नहीं कराया जाता। इसी प्रकार श्रौतयज्ञान्तर्गत पशुयाग जो सृष्टिगत आसुर यज्ञ के नाटकरूप में प्रस्तुत किया जाता है, उसमें भी पशुओं का वध दिखाना ऋषि-मुनि अनुचित मानते थे। अतः उन्होंने पश्वाहुति के स्थान पर पुरोडाश अथवा घृताकृति का विधान करके यज्ञ की पूर्णता सम्पन्न करने का विधान किया था।[२]

पशुयाग के प्रसंग में शुक्ल यजुर्वेद के तेरहवें अध्याय के पाँच मन्त्रों(४७-५१)[३] पर विचार करना भी आवश्यक है।

उवट-महीधर के अनुसार अग्निचयन के अवसर पर पहले यज्ञीय पशुओं, पुरुष, अश्व, गौ, भेड़ और बकरे के सिरों को उखा (हाँडियों) पर टिकाया जाता है। फिर एक-एक करके इन पाँचों मन्त्रों द्वारा उन्हें मुक्त कराया जाता है और उनके स्थान पर अन्य किन्नर अथवा कृष्णमृग, गौर (गौरवर्ण के मृग), गवय (नीलगाय), जंगली ऊँट और अष्टपद शरभ नामक जंगली पशुओं को अर्पित किया जाता है

---

१. साविर्वशाभवत्। ते देवा अब्रुवन् देवपशुर्वा अयं समभूत्। कस्मा इममालप्स्यामहा इति। अथ वै तर्ह्यल्पा पृथिव्यासीत्। अजाता ओषधयः। तामविं वशामादित्येभ्यः कामायालभन्त, ततो वा अप्रथत पृथिवी, अजायन्त ओषधयः। (तै० सं० २।१।२) द्र० वै० सि० मी०, पृ० ३७६-७७

२. वही, पृ० ३८०

३. इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुं सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः। मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। मयुं मे शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥ (४७)

इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु। गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥(४८)

इमं साहस्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्यमध्ये। घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्। गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। गवयं ते शुगृच्छतु ·····॥(४९)

इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम्। त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्। उष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। उष्ट्रं ते शुगृच्छतु·····॥(५०)

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे। तेन देवा देवतामग्रमायंस्तेन रोहमायन्नुपमेध्यासः। शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। शरभं ते शुगृच्छतु········॥ (५१)

जिससे अग्नि उनके द्वारा अपना शरीर पोषण करे और उसका शोक या सन्ताप इन जंगली पशुओं को तथा उन व्यक्तियों को प्राप्त हो जिनसे हम द्वेष करते हैं।[1]

इन पाँच मन्त्रों में से दो मन्त्रों के "मा हिंसीः परमे व्योमन्"(सर्वोच्च आकाश में हिंसित न करो) और इसी अध्याय के बयालीसवें और चवालीसवें मन्त्रों में भी इन्हीं शब्दों की उपस्थिति से सहज ही यह अनुमान हो जाता है कि यहाँ किन्हीं आकाशीय पदार्थों की क्षति न करने की प्रार्थना की जा रही है। दूसरी ओर जो अग्नि इन मन्त्रों में सम्बोधित है वह भी भौतिक जलानेवाला अग्नि नहीं हो सकता जिसमें आहुतियाँ डाली जाती हैं। इस अग्नि के विषय में कहा गया है कि "यह वह अग्नि है जो अग्नि से उत्पन्न हुआ और जो द्युलोक में व्याप्त होकर पृथिवी के ऊपर की दीप्ति से उत्पन्न हुआ, जिससे विश्वकर्मा अथवा प्रजापति ने प्रजाओं को उत्पन्न किया, हे अग्नि, तेरा क्रोध उस (प्रजापति) को छोड़ दे।"[2] यहाँ इस वर्णन से सूर्य अभिप्रेत है, वह त्वष्टारूप अग्नि से उत्पन्न होता है। अगले ही मन्त्र में यह सूर्यरूप अग्नि और भी स्पष्ट है क्योंकि वहाँ उसे सब देवों का मुख तथा मित्र, वरुण और अग्नि का नेत्र कहा गया है। वह सूर्य उदय होते ही द्यु, पृथिवी और अन्तरिक्ष को अपने प्रकाश से पूर्ण कर देता है, वही स्थावर-जंगम दोनों का आत्मा है।[3] हिरण्यगर्भरूपी अग्नि के मध्य यह सूर्य सुवर्णमय बैंत अथवा पुरुष के रूप में है। उसमें घृत अर्थात् दीप्ति और गति की अनेक धाराएँ दिखाई देती हैं। जैसे हृदय के भीतर मन से पवित्र की जाती हुई अन्न की धाराएँ हों उसी प्रकार उसमें सरिताएँ अर्थात् गति की धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं क्योंकि सूर्य सभी ग्रहोपग्रहों तथा गतियों, क्रियाओं

---

१ अग्नेरुत्तीर्य वेदेर्वहिर्दक्षिणे उदङ्मुखस्तिष्ठन्निमं मेत्युत्सर्गसंज्ञैः पंचमन्त्रैः पुरुषादिशिरांस्युपतिष्ठतेऽध्वर्युः। हे अग्ने, सहस्राक्षः सहस्रमक्षीणि यस्य सः हिरण्यशकलरूपसहस्रनेत्रो मेधाय यज्ञाय चीयमानः चयनेन संस्क्रियमाणः सन् त्वमिमं द्विपादं पशुं पुरुषरूपं मा हिंसीः मा दह। यदि वादनेच्छा तर्हि मेध्रं शुद्धं मयुं पशुं तुरंगवदनं किं पुरुषं पशुं जुषस्व सेवस्व भक्षयेत्यर्थः। तेन मयुभक्षणेन तन्वः ज्वालारूपास्तनूः चिन्वानः पोषयन्निह निषीद। ते तव शुक् शोकः सन्तापो मयुम् ऋच्छतु प्राप्नोतु। किं च यं पुरुषं प्रति वयं द्वेषं कुर्मः तं ते शुक् ऋच्छतु॥ (महीधर)

२. यो अग्निरग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्या उत वा दिवस्परि।
येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु॥
—वा० सं० १३।४५

३. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥
—वा० सं० १३।४६

का केन्द्र है।[१] इस अध्याय के अन्य अनेक मन्त्रों में भी सूर्य का, और अग्निरूप सूर्य का उल्लेख है।[२] एक मन्त्र (१४) में इस सूर्यरूपी अग्नि को मूर्धा अर्थात् उच्चस्थ, द्युलोक का कूबड़ तथा पृथिवी का पति या पालनकर्त्ता वताया गया है।[3]

प्रस्तुत मन्त्रों में इसी सूर्य को अग्नि कहकर सम्बोधित किया गया है। यह आदिसूर्य जव अपने स्थान पर मेघ अथवा सृष्टियज्ञ हेतु निश्चित किया जा रहा था तव यह अपने स्रष्टा से अभिन्न था। इसीलिए इसे पुरुष के ही समान (ऋग्वेद १०।९०।१) सहस्राक्ष कहा गया है। उससे प्रार्थना की गई है कि दो पाँववाले पशु अर्थात् पुरुष की हिंसा न करो। इस पशु के दो पाँव वस्तुतः समस्त सृष्टि के द्वन्द्वों अथवा युगलों के प्रतीक हैं। इसी को सम्भवतया द्विपदी गौ के नाम से (ऋग्वेद १।१६४।४१)अभिहित किया गया है। अमृत और मृत्यु, दिन और रात, प्रकाश और अन्धकार, सृष्टि और प्रलय, अमूर्त और मूर्त, अनिरुक्त और निरुक्त, देव और असुर, जन्म और मृत्यु, प्राण और अपान, स्त्री और पुरुष—सव द्विपदीय गौ के रूप हैं। एक का द्वितभाव में आना, यही सृष्टि है। प्राणों(पुराणों ?)में इसे ही हिरण्यांड या सोने के अण्डे के दो शकल वा भाग कहा गया है। एक भाग से द्युलोक और दूसरे भाग से पृथिवी की कल्पना होती है।[४] फिर सूर्य से प्रार्थना की गई है कि तू विकृत मुखवाले पशु के प्रति भी प्रसन्न हो और उसके प्रति भी अपनी दीप्ति फैलाकर अपने तेज की प्रतिष्ठा को वढ़ा। तेरी दीप्ति उस पशु तक जाए, तेरी दीप्ति उस व्यक्ति तक भी जाए जिससे हम द्वेष करते हैं। यहाँ सवके प्रति कल्याण अथवा सुधार की भावना अभिव्यक्त है। वेद प्राकृतिक सन्तुलन के प्रति सजग हैं। इसलिए वन्य पशुओं की भी हिंसा कहीं अभिप्रेत नहीं है। जितने भी अरण्यपशु मृग, सिंह, व्याघ्र आदि हैं, वे वन में हितकर हैं, उन्हें हम नागरिकों से दूर रख हे पृथिवि![५] इसी प्रकार वन-भूमि की इसलिए स्तुति की गई है क्योंकि वह अञ्जनानुलेप प्रदान करनेवाले वृक्षों की सुगन्ध से युक्त है। वह विना किसानों के भी वहुत-से अन्न और

---

१. सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
घृतस्य धारा अभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्ये अग्नेः॥

—वा० सं० १३।३८

२. द्र० मन्त्र सं० ८-१३, १५, १८, २२-२४, ३०, ३३, ३६, ३७, ४०, ४१

३. अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत् पतिः पृथिव्या अयम्।
अपां रेतांसि जिन्वति॥

४. वासुदेवशरण अग्रवाल, वेदरश्मि, पृ० ५७

५. ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहाः व्याघ्रा पुरुषादश्चरन्ति।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अपबाधयास्मत्॥

—अथर्व० १२।१।४९

भोज्यपदार्थ देती है तथा वह मृगों अर्थात् विविध वन्य पशुओं की माता है।[१]

इन मन्त्रों में "शुगृच्छतु" वाक्य भी विचारणीय है। उवट-महीधर तथा अन्य अनेक विद्वानों ने शुक् का अर्थ शुच् (शोके) धातु से शोक अथवा सन्ताप किया है। तदनुसार भाव यह है कि अग्नि द्वारा भक्षित होने का सन्ताप उन पशुओं को प्राप्त हो। परन्तु यहाँ शुच् शब्द की व्युत्पत्ति दीप्त्यर्थक शुच् धातु से भी सम्भव है। शुचि, शुक्र, शोचि आदि शब्दों के मूल में दीप्त्यर्थक शुच् धातु ही विद्यमान है। यास्क ने शुक् और शुचि शब्दों के मूल में ज्वलनार्थक शुच् धातु को माना है।[२] दुर्गाचार्य के मतानुसार यह निघण्टु का धातु ज्वलनार्थक ही है।[3] इसी प्रकार द्वितीय मन्त्र में जिस एक खुरवाले, शब्द करते हुए अश्व पशु को न मारने की प्रार्थना की गई है वह एक अविभक्त प्राण[४] अथवा वाणी[५] का प्रतीक है। उसके स्थान पर गौर का निर्देश है जिससे सूर्य अपनी प्रतिष्ठा का विस्तार करे और अपनी दीप्ति से गौर पशु को प्रदीप्त करके उसे प्रकृति के लिए उपयोगी बनाए। गौर का प्रसिद्ध अर्थ भैंसा है। भैंसा काला है—इसे जल प्रिय है। इसके द्वारा सृष्टि-पूर्व की जल की अवस्था संकेतित है। जलों का अभिप्राय सृष्टि की कारणावस्था से है जिसमें रूपों की पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं रहती किन्तु सब रूपों का अन्तर्भाव एक में हो जाता है। यह प्रकृति की "गर्भावस्था या साम्यावस्था है।"[६] सूर्य से प्रार्थना की गई है कि वह अपनी दीप्ति से इस गर्भावस्था को प्रकाशित करे, उसे प्रकट करे। इसी क्रम में अगले मन्त्रों में परमव्योम में कार्य-जगत् के रूप में प्रकट होती हुई सैकड़ों धाराओंवाली, सहस्रों रूपोंवाली सलिल के मध्य से आविर्भूत होती हुई गौ की[७] त्वष्टा की प्रजाओं के प्रथम जनक[८] आवृत (अव्यक्त) वरुण (आवरक प्रकृति) के केन्द्रभूत और दो पाँववाले, चार पाँववाले

---

१. आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्॥ —ऋ० १०।१४६।६

२. शुचिः शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। —नि० ६।१

३. यद्यप्ययं शोकार्थ एव गणे पठितस्तथापि शोको दीप्तिरपि। तथा च निगमे पठ्यते अर्कशोकैरिति। वस्तुतस्तु नैघण्टुकोऽयं धातुः।
—(निघं० १।१६।५); शोचति ज्वलतीत्यर्थः।

४. हरिशंकर जोशी, वैदिक विश्वदर्शन, पृ० १६३

५. वासुदेवशरण अग्रवाल, वेदरश्मि, प० ५६

६. वही, पृ० ४६

७. वही, पृ० ५०-५२

८. वही, पृ० ५५

पशुओं के त्वचारूप आवरण की, और जिस अजन्मा अर्थात् अव्यक्त तत्त्व ने[1] अग्नि अर्थात् स्रष्टा की दीप्ति से उत्पन्न होकर सबसे पहले उसे देखा उससे ही सब देव-देवता बने और उन्नति को या सृष्टि को प्राप्त हुए, उसकी हिंसा न करने की प्रार्थना है। भाव यह है कि सृष्टि के आरम्भ में सूर्य इन सब सर्जक तत्त्वों की तो रक्षा करता ही है, साथ ही जो कम उपयोगी प्रतीत होनेवाले तत्त्व हैं, उन्हें भी अपनी दीप्ति से प्रकाशित कर समाज के लिए उपयोगी बनाता है। यहाँ कहीं भी पशुहिंसा अभिप्रेत नहीं है।

उपर्युक्त मन्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्या के अनुसार उनमें परिगणित पशु मनुष्यों की वृत्तियों के प्रतीक हैं। उनमें से पुरुष(मनुष्य का विवेक, मननशीलता), अश्व (गति और उत्तम वाणी), गौ (सर्वोपकारक बुद्धि), भेड़ (आच्छादन करके सबकी रक्षा करने की भावना) और अज(जीवात्मा तथा परमात्मा का सम्यक्ज्ञान) तो सुरक्षित रहने चाहियें और मयु (दुर्भावना के कारण मुखविकार), गौर (जंगली भैंसे) के समान अपने-आपको बड़ा समझने की श्रेष्ठता-ग्रंथि), गवय (नीलगाय के समान अन्य प्राणियों पर आक्रमण करने की प्रवृत्ति), जंगली ऊँट(अपनी श्रेष्ठता के द्वारा सबको आतंकित करने की प्रवृत्ति) तथा शरभ (दो पाँवों को भी आठ पाँव समझकर दूसरों को दबाकर आगे निकलने की प्रवृत्ति) का नाश होना चाहिए।

गृह्यसूत्रों के विनियोग[2] के आधार पर उवट-महीधर ने वा०सं० के एक मन्त्र[3] का विनियोग अष्टका कर्म में माना है। तदनुसार गाय का वध करके उसकी चर्बी छोटी नलियों में प्रवाहित की जाती है और अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि वह उस चर्बी को मृत पितरों के पास पहुँचाए। ये चर्बी की नालियाँ उन पितरों तक परलोक में पहुँचें जिससे कि हमें उनका आशीर्वाद प्राप्त हो।[4] परन्तु वा० सं० के इस मन्त्र से पूर्व के मन्त्रों में उत्तम ज्योति प्राप्त करने के लिए सूर्य की स्तुति[5], सौ

---

१. अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्। —वही, पृ० ५६

२. मध्यमा गवा, तस्यै वपां जुहोति वह वपां जातवेदः पितृभ्यः—पा० गृ० ३.३.६, शां० गृ० ३.१३.३, आ० गृ० २.४.१३, द्र० लेखक का 'गृह्यमन्त्र और उनका विनियोग', पृ० ४८५

३. वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैतान् वेत्थ निहितान् पराके। मेदसः कुल्या उप तान्स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः सन्नमन्ताम् स्वाहा। —वा० सं० ३५-२०

४. मही०—हे जातवेदः पितृभ्योऽर्थाय त्वं वपां धेनुसम्बन्धि चर्मविशेषं वह प्रापय। पराक्रान्ते दूरेऽपि यत्र यस्मिन् देशे स्थापिता नेनान् पितॄन् त्वं जानासि तत्र वह। तस्याः वपाया निस्सृत्य मेदसः धातुविशेषस्य नद्यः तान् पितॄन् प्रति उप-स्रवन्तु।

५. उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्। —वा० सं० ३५-१४

वर्ष जीने की इच्छा[1], अग्नि से वायु को पवित्र करने, अन्न और रस प्रदान करने तथा कष्टों को दूर करने की प्रार्थना[2] एवं अग्नि से सबकी रक्षा उसी प्रकार करने की प्रार्थना की गई है जैसे पिता पुत्रों की करता है।[3] इन मन्त्रों में चर्बी की आहुति की कोई संगति दिखाई नहीं देती, अतः यह सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि पूर्ववर्ती मन्त्रों के क्रम में ही इसमें भी कोई जीवन-रक्षा से सम्बद्ध विचार होना चाहिए।

वपा बीजवपन और व्यापक रूप से कृषि की विद्या है। जो इस विद्या के विशेषज्ञ जातवेदाः हैं उनसे प्रस्तुत मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि आप इस विद्या को उन दूर स्थानों तक पहुँचाइये जहाँ आप अपने पूर्वजों को बसा हुआ जानते हैं अथवा आप उस वपा अर्थात् बीजवपन-योग्य भूमि की ऋतुओं के लिए अर्थात् बीज बोने की ऋतु के अनुसार प्राप्त होइए। स्निग्ध जल की धाराएँ उन पूर्वजों को अथवा उन ऋतुओं को यथोचित रूप में प्राप्त हों। इन पूर्वजों की सज्जनों के प्रति सदिच्छाएँ अथवा आशायुक्त क्रियाएँ ठीक-ठीक प्राप्त होती रहें।[4]

पं० प्रियरत्न आर्ष के शब्दों में, "इस मन्त्र में जनक महानुभावों तथा ऋतुओं के लिए पितर शब्द आया है और उनके लिए आश्रमभूमि अथवा कृषिभूमि को तैयार करके आशीर्वादों और ऋतुफलों के प्राप्त करने का विधान है। यहाँ यज्ञ का लेश भी नहीं है। अन्य विद्वानों ने यज्ञ की कल्पना की है जो ठीक नहीं है।[5]

अन्त्येष्टि के एक मन्त्र[6] के आधार सर मैंक्डानेल ने यह निष्कर्ष निकाला है कि "मृतक के दाह-संस्कार में एक गाय का वध अनिवार्य कर्म था, क्योंकि उसके मांस का उपयोग शव को लपटने के लिए किया जाता था।"[7]

---

१. शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन।—वही०, १५
२. अग्न आयूंषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम्॥—वही, १६
३. घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभिरक्षतादिमान्॥ वही०, १७
४. हे जातप्रज्ञान, यत्र पराके दूरस्थाने एतान् पितॄन् निहितान् स्थितान् जानासि तेभ्यः पितृभ्यो जनकेभ्यो विद्याशिक्षादातृभ्यो वा ऋतुभ्यो वा वपां वपनयोग्यां भूमिं वह प्राप्नुहि। स्निग्धा जलप्रवाहधारास्तान् जनान् ऋतून् वा प्राप्नुवन्तु। एषां सत्सु साध्व्य आशिष इच्छा आशंसनीयाः क्रिया वा सम्यक् प्राप्नुवन्तु। (दयानन्दभाष्य)
५. यमपितृपरिचय, पृ० २८९
६. अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च।
नेत्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन्पर्यङ्खयाते॥—ऋ० १०।१६।७
७. The ritual of cremation of the dead required the slaughter of a cow as an essential part, the flesh being used to envelop dead body. —वेदिक इंडेक्स, खं० २

इस भ्रान्त निष्कर्ष का आधार मन्त्रस्थ "गोभिर्व्ययस्व" (गौओं के द्वारा पहुँचाओ) है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि 'गोभि:' शब्द बहुवचन में है और एक मनुष्य के शव को लपेटने के लिए एक ही गाय का मांस पर्याप्त होता है, अतः 'गोभि:' से यहाँ तद्धितार्थ में गौओं से प्राप्य कोई अन्य पदार्थ अभिप्रेत होना चाहिए और वह शवदाह के समय आहुतिरूप में अर्पित तथा शव के अंगों पर लपेटा गया घी ही हो सकता है। इसी क्रम में 'पीवसा मेदसा' भी घी के ही द्योतक हैं—वह घी जो पिघला हुआ नहीं है, अपितु गाढ़ा और मोटा है।[1]

'व्ययस्व' में पुरुषव्यत्यय के द्वारा प्रथम पुरुष का रूप मानकर की गई एक अन्य व्याख्या के अनुसार मन्त्र का अर्थ है—"अग्नि के घर इस चिता को यह मृत शरीर अपनी गौओं अर्थात् इन्द्रियों अथवा नाड़ियों के साथ पहुँच जाए अर्थात् उसमें पूरा समा जाए (चिता छोटी न हो) और अपने मांस और चर्बी के साथ उस जलती हुई चिता में पहुँचे। धर्षक तथा प्रत्येक वस्तु को मिथ्या या नामशेष करनेवाला अति-दृढ़ यह अग्नि उस प्रेत को विशेष रूप से जलाता हुआ कहीं इधर-उधर गिरा (बिखेर) न दे।[2]

इससे यह स्पष्ट है कि गाय के मांस से शव को लपेटने की कल्पना निराधार है। इसका आधार केवलमात्र आश्वलायनगृह्यसूत्र (४।३।२०) और तदनुसारी सायण का विनियोग है जिसके अनुसार गाय की चर्बी मृतक के विभिन्न अंगों पर रखी जाती है, परन्तु यह प्रथा अन्त्येष्टि में कहीं देखने में नहीं आती। अतः केवल एक गृह्यसूत्र के विनियोग के आधार पर वेदमन्त्र में गोहिंसा मानना सर्वथा अनुचित है।

प्रसिद्ध विवाहसूक्त अथवा सूर्या सूक्त (ऋ० १०।८५) के तेरहवें मन्त्र[3] के आधार पर भी अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने विवाह के अवसर पर गौओं अथवा साँडों

---

१. "......केवल घी एक ऐसा पदार्थ है कि जो तीन से अधिक गौओं से लेना आवश्यक होगा। मृत शरीर को अग्नि देने के पूर्व उसको घी से लिपटा देना आवश्यक होता है।" —प्राचीन भारत में गोमांस—एक समीक्षा, पृ० २०३

२. अग्नेर्वर्म गृहमग्निस्थानं वेदिम् (चिताम्) वर्मेति गृहनाम (निघं ३-४) गोभि-रिन्द्रियैर्नाडीभिर्वा परिव्ययस्व अयं प्रेतः परितो गच्छेत् सर्वतः प्राप्नुयात्। पुरुषव्यत्ययः(व्यय गतौ भ्वादि०)तथा च पीवसा मांसेन मेदसा वपसा च तामेव ज्वलन्तीं वेदिं प्रोर्णुष्व प्रसरेत्। कुतः, धृष्णुः प्रसह्यकारी, जर्हृषाणोऽतिशयेन वस्तुमात्रमलीककर्तुं शक्तिर्यस्य स दधृक् प्रगल्भोऽतिदृढ़ एषोऽग्निः विशेषं दग्धं करिष्यन् नो चेत् इतस्ततः पातयेत्। —यमपितृपरिचय, पृ० ५७

३. सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते॥
—ऋ० १०।८५।१३

के वध का प्रतिपादन किया है। उनके मतानुसार इन पशुओं को भोजन के निमित्त ही काटा जाता था।[1]

इस मन्त्र के सम्यक् ज्ञान के लिए इससे पूर्व और पश्चात् के मन्त्रों पर दृष्टि-पात करना आवश्यक है। उससे सबसे पहले तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह वर्णन किसी लौकिक विवाह का वर्णन नहीं है, अपितु आकाशीय तत्त्वों के विवाह का आलंकारिक वर्णन है।

इन मन्त्रों में सूर्य, द्युलोक, भूमि, सोम, अश्विनौ, सविता आदि का उल्लेख है तथा सविता द्वारा सूर्या (उषा) को पति सोम के पास भेजे जाने का वर्णन है। एक मन्त्र (१५) में सूर्या के दो वारातियों (अश्विनौ) के उसके पास आने का वर्णन है और उनके रथ के दो चक्रों में एक के ही विद्यमान होने का तथा दूसरे का गुह्य होने का उल्लेख (१६)। एक मन्त्र (११) में दो कानों को रथ के दो चक्र कहा गया है। इस प्रकार इन मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ भी अभिप्रेत होता है। तदनुसार वधू सूर्या बुद्धि शक्ति है और उसका पिता सूर्य परमपिता परमेश्वर है तथा वर सोम षोडश कलायुक्त आत्मा है। वधू के पास बारात में आनेवाले दोनों अश्विनौ श्वास-उच्छ्वास हैं इत्यादि।[2]

स्वयं सायण और तदनुसारी विल्सन ने भी "गावो हन्यन्ते" का अर्थ "गौएँ मारी जाती हैं" न करके "गौएँ हाँकी जाती हैं" किया है।[3] इस मन्त्र में 'मारने' अर्थ की भ्रान्ति का मूलकारण हन् धातु का अधिक प्रचलित हिंसा अर्थ है, परन्तु प्रायः इस तथ्य को भुला दिया जाता है कि पाणिनीय धातुपाठ में इसके हिंसा और गति दोनों अर्थ दिये गए हैं।[4] यह सर्वसामान्य नियम है कि जहाँ किसी पद के एक से अधिक अर्थ उपलब्ध हों, वहाँ प्रसंगानुसार संगत अर्थ ही ग्रहण किया जाना चाहिए। यह पहले ही देख चुके हैं कि सम्पूर्ण सूक्त की भावना के अनुसार (चाहे उसे पार्थिव विवाह के प्रसंग में क्यों न माना जाए) "मघा नक्षत्र में गौएँ मारी जाती हैं और अर्जुनी अथवा फल्गुनी में वधू ले जाई जाती है" अर्थ की संगति नहीं होती। इस मन्त्र से पहले मन्त्र में सूर्या द्वारा मन के रथ पर आरोहण का वर्णन है।[5] भोजन और मांस का कोई प्रसंग नहीं।

---

१. The marriage ceremony was accompanied by slaying of oxen, clearly for food.

२. प्राचीन भारत में गोमांस—एक समीक्षा, पृ० १९१-१९३

३. मघानक्षत्रेषु गावो हन्यन्ते दण्डैः ताड्यन्ते प्रेरणार्थम्। (सायण) आर ड्रिव्न एलांग (विल्सन)

४. हन् हिंसागत्योः।

५. अनो मनस्मयं सूर्यारोहत् प्रयती पतिम्॥ —ऋ० १०।८५।१२

वस्तुतः इस मन्त्र में वधू के पतिगृहगमन का क्रम बताया गया है, अर्थात् सविता ने सूर्या को जो दहेज आदि स्त्रीधन दिया, पहले वह गया। उस स्त्रीधन के रथों के बैलों को मघा नक्षत्र में हाँका जाता है और फल्गुनी में वधू को ले-जाया जाता है। भाव यह है कि मघा नक्षत्र होते ही पूर्वा और उत्तरा—ये फल्गुनी नक्षत्र आते हैं जो अगले दिन अथवा उससे अगले दिन के द्योतक हैं। अतः जिस दिन वहतु या स्त्रीधन भेजा जाता है उससे अगले दिन या एक दिन छोड़ वधू ले-जाई जाती है।[1] आकाशीय दृष्टि से सूर्या और कुछ नहीं, सूर्य की प्रभा है जो अपने पति चन्द्रमा में जाकर वहाँ रमती है।[2] सविता अर्थात् सूर्य द्वारा दिया गया सूर्या का वहतु उसके प्रकाश का भाण्डार है जिसकी गौएँ अथवा किरणें मघा नक्षत्र अथवा माघ मास में क्षीण हो जाती हैं (मारी जाती हैं) और फल्गुनी नक्षत्रों में अर्थात् फाल्गुन मास में फिर वह प्रकाश बढ़ जाता है अथवा उसकी प्रचण्डता बढ़ जाती है।

अश्वमेध यज्ञ में विनियुक्त मन्त्रों के प्रसंग में भ्रान्ति का मुख्य कारण मेध्, आलभ् और सम्-ज्ञप् धातु हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि ऋग्वेद में मेध् और संज्ञप् का तिङन्त प्रयोग नहीं है। आलभ् का भी केवल एक क्तान्त प्रयोग—आलब्धम् ऋ० १०।८७।७ में हुआ है। मेध् (कृदन्त) प्रयोग भी केवल एक मन्त्र में हुआ है जहाँ उवट, महीधर, सायण ने उसका अर्थ मेध्य अश्व करके उसके अंगों को देवताओं की आहुति के योग्य पकाने का उल्लेख किया है।[3]

यहाँ भी अश्वांगों के पकाने का अर्थ सीधा मन्त्रार्थ नहीं है। सीधा मन्त्रार्थ है मेध अर्थात् पवित्र अन्न को ठीक से पकाएँ। इन धातुओं के अर्थों को वेद की भावना के अनुसार समझा नहीं गया। धातुपाठ में मेध धातु के अर्थ मेधा-संगमन (इकट्ठा होना या इकट्ठा करना) और हिंसा करना दिये गए हैं।[4] परन्तु कर्मकाण्डियों तथा विलासी राजाओं के प्रयोग के कारण इनमें से केवल हिंसा अर्थ ही प्रसिद्ध एवं प्रचलित हो गया। इस सम्बन्ध में महाभारत के अश्वमेधपर्व में विविध पशुओं के इकट्ठा किये जाने और उनकी प्रदर्शनी का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यज्ञ-मण्डप में जितने भी स्थल और जल के पशु हैं उन सबको राजाओं ने वहाँ लाया हुआ देखा। वहाँ गौएँ थीं, भैंसें थीं, वृद्ध स्त्रियाँ थी, जलचर जन्तु, पंजोंवाले पशु और पक्षी थे। गर्भ से उत्पन्न होनेवाले पशु, अण्डों से उत्पन्न होनेवाले जन्तु, स्वेदज कृमियों और उद्भिज्ज वनस्पतियों तथा पर्वतों और अनूपों में उत्पन्न होनेवाले

---

१. प्राचीन भारत में गोमांस—एक समीक्षा, पृ० १९७-१९८

२. प्राचीन भारत में गोमांस—एक समीक्षा, पृ० १९४

३. यदूवध्यमुदरस्यापवाति य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति। सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तूत मेधं शृतपाकं पचन्तु॥ —ऋ० १।१६२।१०, वा० सं० २५-३३

४. मेधृ मेधासंगमनयोर्हिंसायाम्।

जन्तुओं को सबने देखा। इस प्रकार वह यज्ञमण्डप पशुधन, गोधन और धान्यादि को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और राजा यह सब देखकर बहुत आश्चर्यचकित हुए।[1]

इन मन्त्रों के प्रसंग में स्वामी दयानन्द के भाष्य का निम्नलिखित आकलन उद्धरण के योग्य है—"उस (दयानन्द-भाष्य के अश्वमेध के परिकल्प) ने अश्वमेध के एक उदात्त, ग्राह्य, मानव और समाज तथा इतर प्राणिलोक के लिए कल्याणकारक परिकल्प को विद्वानों, चिन्तकों और सामान्य जनों—सभी स्त्रियों, पुरुषों के विचार और परिष्कारपूर्वक अपनाने के लिए प्रस्तुत किया है।" हरिशंकर जोशी के अनुसार योग-प्रक्रिया में सर्वप्रथम इन्हीं वाहरी अश्वों (प्राणों) के मेध (प्राणायाम, प्रत्याहारादि) किये जाते हैं, जिससे बुद्धि में शुद्धता मेध्यता आती है, तब आगे क्रम चलता है। ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में यही बताया गया है—यो म इति प्रवोचत्यश्व-मेधाय सूरये। ददद्‌ऋचा सनिं यते ददन्मेधामृतायते ॥ (ऋ० ५।२७।४) [जिसने प्राणायाम आदि के द्वारा शुद्धि को प्राप्त किया है, ऐसे बुद्धिमान् को जो 'मुझे भी दो' कहकर माँगता है, उसे वह ज्ञान देता है, उस नियमपालक सत्याचरणवाले को वह मेधा देता है।][2]

जहाँ तक सम्पूर्वक ज्ञप् धातु का प्रश्न है, यह सम्पूर्वक ज्ञा (ज्ञानार्थक) का णिजन्त रूप है। सम्-ज्ञा का अर्थ पूर्ण परिचय होता है। इसी अर्थ में इसका प्रयोग संगठन सूक्त (ऋ० १०।१९१) के एक मन्त्र में हुआ है—देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते। अथर्ववेद के एक मन्त्र में[4] संज्ञपनम् तथा संज्ञपयामि शब्दों का प्रयोग 'ज्ञान देना, बताना या एक-दूसरे से मिलाना' अर्थों में हुआ है। इस अर्थ की

---

१. स्थलजा जलजा ये च पशवः केचन प्रभो।
   सर्वानेव समानीतान् अपश्यंस्तत्र वै नृपाः ॥
   गाश्चैव महिषीश्चैव तत्र वृद्धस्त्रियोऽपि च।
   औदकानि च सत्त्वानि श्वापदानि वयांसि च ॥
   पर्वतानूपजातानि भूतानि ददृशुश्च ते ॥
   एवं प्रमुदितं सर्वं पशुगोधनधान्यतः।
   यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा परं विस्मयमागताः ॥ —महा०अश्व० ८५।३२-३५
   —द्रष्टव्य : प्राचीन भारत में गोमांस—एक समीक्षा, पृ० १६६

२. सुधीर कुमार गुप्त, 'दयानन्द-भाष्य में अश्वमेध-प्रकरण, वेदव्याख्या और वैदिक विचारधारा', पृ० ७४

३. वैदिक विश्वदर्शन, पृ० १९३

४. संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः।
   अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥ —अथर्व० ६।७४।२

पुष्टि उसके पूर्ववर्ती मन्त्र से भी होती है ।[१] इन दोनों मन्त्रों का अर्थ निम्नलिखित है—

तुम्हारे शरीर मिले हुए हों, मन सम्पृक्त हों, व्रत एक-जैसे हों। ब्रह्मणस्पति कल्याणमय प्रभु ने तुम्हें एकत्र किया है। तुम्हारे मनों में मिलकर ज्ञान उत्पन्न हो, हृदयों में प्रेम हो। प्रभु के नाम पर किये श्रम से मैं तुम्हें उत्तम ज्ञान प्राप्त कराता हूँ।[२]

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में[३] एक आख्यायिका है जिसमें मन और वाणी के बीच बड़प्पन के लिए किये गए झगड़े का उल्लेख है। उसमें अन्त में कहा है— "वाणी ने कहा—तुझसे बड़ी तो मैं ही हूँ। तुझे जो ज्ञान है, उसे प्रकट तो मैं करती हूँ, मैं ही उसे दूसरों को अच्छी प्रकार जतलाती हूँ—संज्ञापयामि।"[४]

इस आधार पर और प्रसंग के अनुसार अग्नीषोम-प्रकरण में भी संज्ञापन का अर्थ बकरे को काटना न होकर उसका सम्यक् ज्ञान कराना ही होगा क्योंकि आगे चरित्र सुधारने की बात वहाँ कही गई है।[५]

इस प्रसंग में तृतीय भ्रमोत्पादक धातु आ पूर्वक लभ् है। "प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते" (वा०सं० २४।२९) आदि वाक्यों को उद्धृत करके सिद्ध किया जाता है कि वेद में पशु-हिंसा विद्यमान है, क्योंकि ऐसे वाक्यों का अर्थ किया जाता है—प्रजापति के लिए पुरुषों और हाथियों को मारता है। पकड़ना, स्पर्श करना अर्थ में आ पूर्वक लभ् के अनेक उदाहरण वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं। उनमें से कुछ ये हैं—१. अथास्य दक्षिणांसमधि हृदयमालभते। —पा० गृ० २।२।१६

(अब आचार्य इस-[ब्रह्मचारी] के दाएँ कन्धे के ऊपर से हृदयदेश का स्पर्श करता है।)

२. वरो वध्वा दक्षिणांसमधि हृदयमालभते। —पा० गृ० १।८।८

(वर वधू के दायें कन्धे के ऊपर से उसके हृदयदेश का स्पर्श करता है।)

३. कुमारं जातं पुरान्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्येन प्राशयेत्।
—आश्व० गृ० १।१५।१

(दूसरों के द्वारा स्पर्श किये जाने से पूर्व नवजात शिशु को सुवर्ण के द्वारा घी और मधु खिलाए।)

---

१. सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्॥ वही, १

२. भूमिका भास्कर, पृ० ३७

३. अथ ह वागुवाच—अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद्वै त्वं वेत्थाहं तद्विज्ञापयाम्यहं संज्ञपयामीति।—श० ब्रा० १।४।५

४. भूमिका भास्कर, पृ० ३८

५. वही।

४. वत्सस्य समीपानयनार्थमालम्भः स्पर्शो भवति ।

—मीमांसा दर्शन २।२।७० पर सुबोधिनी टीका

(बछड़े को समीप लाने के लिए आलम्भ-स्पर्श होता है ।)

५. नामधेयप्रतिलम्भमेकेषाम् । —निरुक्त १।१४

(कुछेक का नाम ग्रहण होता है ।)

६. न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः । —कठोप० १।१।२५

(ऐसी मनुष्यों द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकतीं ।)

अतः वेदवाक्यों में भी आलभ् का अर्थ स्पर्श होगा, मारना नहीं।[1] पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने आ पूर्वक लभ् के इस अर्थ की पुष्टि में एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण खोज निकाला है।[2] चरकसंहिता में उल्लेख है कि आरम्भ में यज्ञों में पशुओं का स्पर्श किया जाता था (समालभनीयाः)। उनका आलम्भन अर्थात् हिंसा नहीं की जाती थी।[3]

चरक के इस वचन से दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो यह कि आरम्भ में अर्थात् संहिताकाल में पशुओं का वध नहीं किया जाता था, केवल स्पर्श किया जाता था। दूसरी यह कि चरक के समय तक लभ् और लम्भ् पृथक् अर्थों में दो पृथक् धातु माने जाते थे।[4]

परन्तु हम ऊपर वैदिक साहित्य के उदाहरणों में लभ् और लम्भ् दोनों का समान प्राप्ति के अर्थ में प्रयोग देख चुके हैं। वस्तुतः लोभी नास्तिकों ने यज्ञों में हिंसा की प्रवृत्ति आरम्भ की। वेदवाक्यों को समझे बिना उन्होंने मिथ्या बातों को सत्य के समान प्रसारित कर दिया।[5]

चरक के समय में लभ् और लम्भ् दो पृथक् धातु होते हुए भी जब लम्भ् धातु के अधिकतर प्रयोग लुप्त हो गए तो कुछ बचे हुए प्रयोगों का साधुत्व दिखाने के लिए पाणिनि इत्यादि वैयाकरणों ने लभ् धातु में नुम् आगम का विधान कर दिया। इस प्रकार एक ही धातु मान लिये जाने के कारण आलम्भ धातु का हिंसा-अर्थ आलभ् धातु के प्रयोगों में भी प्रविष्ट हो गया, अतः आलभते और आलभेत पदों

---

१. स्वा० विद्यानन्द सरस्वती, भूमिकाभास्कर, पृ० ३८

२. श्रौतयज्ञमीमांसा, पृ० ३२

३. आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म । ......पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमापुः । —चिकित्सा, १९।४

४. डुलभष् प्राप्तौ (१।५६४); लभि (लम्भ्) धारणे (१।३६२) —काशकृत्स्न धातुपाठ

५. लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम् ।
वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम् ।। —महा० शान्ति० २६३-६

का अर्थ व्याख्याकारों ने 'आलम्भन' करें (काटें) कर दिया।[1]

लभ् धातु के इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यजुर्वेद (अ०२३-२४) के अश्वमेध में विनियुक्त मन्त्रों में भी जहाँ इस धातु का प्रयोग हुआ वहाँ उसका अर्थ काटना न होकर स्पर्श करना ही होगा। "वसन्त के लिए कपिंजल पक्षियों का आलम्भन करता है, प्रजापति के लिए पुरुषों, हाथियों का आलम्भन करता है।" इत्यादि मन्त्रों[2] के प्रसंग में कात्यायनश्रौतसूत्र का विधान है कि इन कपिंजल आदि पशु-पक्षियों के चारों ओर जलती हुई लकड़ी घुमाकर इन्हें छोड़ देते हैं।[3] उवट-महीधर आदि भाष्यकारों ने भी इस विषय में लिखा है कि इन पशु-पक्षियों में से सभी वन्य पशुओं को छोड़ देना चाहिए, उनकी हिंसा नहीं करनी चाहिए।[4] इसी प्रकार जहाँ (वा० सं०—३०।५–२२) पुरुषमेध-प्रकरण में "ब्रह्मणे···ब्राह्मणम्" (ब्रह्मा के लिए ब्राह्मण का आलम्भन करता है) इत्यादि विधानों में भी इन पुरुषों को पर्यग्निकरण के पश्चात् कपिंजल आदि के समान छोड़ दिया जाता है।[5] इससे स्पष्ट है कि जिन पशु-पक्षियों को यूपान्तरालों में बाँधे जाने का विधान है, उनके द्वारा राष्ट्र के सभी पशु-पक्षियों की प्रदर्शनी की जाती थी।

इसी कारण अश्वमेध को राष्ट्र कहा गया है (राष्ट्रं वा अश्वमेधः)। वास्तव में अश्वमेध का अश्व भी सूर्य का प्रतीक है। इस अश्व के द्वारा राजा 'सार्वभौम राजा' की पदवी प्राप्त करता है। उधर आकाश में भी सूर्य सार्वभौम राजा है। वही अश्व है। ऊपर ऋ० १।१६२ के प्रसंग में भी यह तथ्य उस सूक्त के अनेक मन्त्रों में प्रकट हुआ है कि अश्व सूर्य ही है। अश्वमेधीय अश्व के जो भी लक्षण बताए गए हैं वे सूर्य के ही हैं। सूर्योदय से डढ़ घण्टा पूर्व रात्रि का अन्धकार होता है और पूर्व दिशा में ऊपर आकाश में सूर्य की किरणें व्याप्त होती हैं।

यही अश्व का अगला भाग काला होने और माथे पर श्वेत चिह्न होने का

---

१. उत्तरकाले यदा लम्भधातोर्भूयांसः प्रयोगा विलुप्ताः, तदा केषांचिदेवावशिष्टानां प्रयोगाणां साधुत्वनिदर्शनाय पाणिनिप्रभृतिभिर्वैयाकरणैः लभधातावेव नुमागस्य विधानं कृतम्। इत्थं च धात्वेककल्पनायाः कारणाद् आलम्भ धातोर्यो हिंसार्थ आसीत् स आलभधातोः प्रयोगेष्वपि संक्रान्तः। अतएव आलभते-आलभे तयदयोः आलम्भनं कुर्यादित्यर्थो व्याख्याकारैः कृतः।
—श्रौ० मी० पृ० ५७

२. वसन्ताय कपिंजलानालभते, प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते।
—वा० सं० २४।२०, २९

३. कपिंजलादीन् उत्सृजन्ति पर्यग्निकृतान्। —का० श्रौ० २०।६।९

४. तेष्वरण्याः सर्वे उत्स्रष्टव्याः, न तु हिंस्याः। —वा० सं० २४।४० पर भाष्य

५. कपिंजलादिवत् उत्सृजन्ति ब्राह्मणादीन्। —का० श्रौ० २१।१।१२

रूपक है। उषा के पश्चात् सूर्योदय होने पर प्रकाश हो जाता है। यही अश्व का दूसरा आधा श्वेत भाग है। राजा की चार पत्नियाँ—वस्तुतः चार प्रमुख दिशाएँ हैं। राम ने अश्वमेध यज्ञ किया, परन्तु उनकी चार पत्नियाँ नहीं थीं। वस्तुतः आधिदैविक अश्वमेध की सारी क्रियाओं का अनुकरण भौतिक द्रव्यमय यज्ञ में उसी सीमा तक किया जाता है, जितना सम्भव हो। इसी प्रकार अश्वमेध के घोड़े का एक वर्ष तक घूमना सूर्य की वार्षिक गति का रूपक है। इसी प्रकार घोड़े के साथ जिन कवचधारी रक्षकों के चलने का वर्णन है, वे सूर्य की किरणें ही हैं। घोड़े के सभी अंगों का रस्सियों से बाँधा जाना सूर्यमण्डल के सब ओर फैली हुई उसकी किरणों का प्रतीक है।[1]

स्वयं यजुर्वेद में इस बात के प्रमाण हैं कि यह अश्व सूर्य ही है। एक मन्त्र में बताया गया है कि अश्व महान् प्रजननात्मक तत्त्व था।[2] वही दधिक्रावा नाम का जगत् का धारण-पोषण करते हुए चलते रहनेवाला, विजयी, वेगवान् तथा अन्न से युक्त सूर्यरूपी घोड़ा है। हम उसकी स्तुति करते हैं। वह उत्तम अन्न के द्वारा हमारे मुखों को सुरभित करे और हमारी आयु को दीर्घ करे।[3] इसी प्रसंग में अश्व के विषय में कहा गया है कि ऋतुएँ और पर्व उसे विभाजित करके शान्त करें। संवत्सर के तेज से अपने-अपने यथोचित कर्मों के द्वारा ये सब उसे शान्त करें। (शमी=कर्म, निघण्टु) आधे मास(पक्ष) और मास तुझे शान्त करते हुए तुझे तीक्ष्ण करें और दिन-

---

१. अश्वमेधीयाश्वस्य यानि लक्षणानि निरूपितानि तानि आधिदैविकस्य जगतः सूर्यस्यैव सन्ति। सूर्योदयात् सार्धघण्टापूर्वं रात्रेस्तमो भवति, पूर्वस्यां दिशि ऊर्ध्वमाकाशे व्याप्ताः सूर्यरश्मयः। इदमश्वस्य पूर्वतनः कृष्णभागो ललाटे च श्वेतं लक्ष्मः। उषसोऽनन्तरं सूर्योदये सति प्रकाशो भवति। अयमश्वस्यापरोऽर्ध-श्वेत भागः। चतस्रः पत्न्यः पूर्व-पश्चिमोत्तर-दक्षिणरूपाश्चतस्रो दिशः। रामोऽश्वमेधं चकार, परन्तु तस्य चतस्रः पत्न्यो नासन्। अस्मन्मते तु आधिदैविकस्याश्वमेधस्य कृत्स्नं कर्म द्रव्यमयेऽश्वमेधे तावन्मात्रमेवानुक्रियते यावत्तत् सम्भवति। अश्वस्यैकवर्षमितं परिभ्रमणं सूर्यस्य वार्षिकगतेरुपलक्षकम्। कवचिनो रक्षकाः सूर्यरश्मय एव। अश्वस्य सर्वांगाणां रज्जुभिर्बन्धनम् सूर्यमण्डलं सर्वतः सूर्यरश्मयः प्रसृता भवन्ति।

—युधिष्ठिर मीमांसक, श्रौ० मी० पृ० ७८-७९

२. अश्व आसीद् बृहद्वयः। —वा० सं० २३।१२

३. दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ —वा० सं० २३।३२

रात तथा मरुत् तेरे थोड़े-से दोष को भी दूर कर दें (स्वा० द० विलिष्ट=व्यसनम्, सूदयन्तु=दूरीकुर्वन्तु) ।[1] इसी प्रसंग में आगे अश्व के लिए प्रार्थना की गई है कि आकाश, पृथिवी, अन्तरिक्ष और वायु तेरे छिद्र को पूर्ण कर दें, नक्षत्रों के साथ सूर्य तेरे लोक को साधु अर्थात् ठीक बना दे ।[2]

निश्चित ही इन सब सन्दर्भों में अश्व भौतिक अश्वनामक पशु नहीं हो सकता। उसका वर्णन सूर्य अथवा इस सूर्य से भी बड़े सूर्य को लक्षित करता है । उवट-महीधर ने कात्यायन श्रौतसूत्र (२०।५।११) के विनियोग के आधार पर अश्वमेध के जिस घोड़े को रथ में जोतने का विधान किया है, उसकी स्तुति सूर्य के समान की जा रही है, ऐसा उन दोनों ने स्वीकार किया है ।[3] वस्तुतः वा० सं० के विनियुक्त मन्त्र में सूर्य का ही वर्णन है जिस देदीप्यमान विचरणशील को उसकी देदीप्यमान, सब ओर रहनेवाली किरणें आकाश में मानो जोतती हैं ।[4]

अश्वमेध के प्रसंग में जो मन्त्र (वा० सं० २३।१८) दिया गया है उसके तीन खण्ड करके विनियोग किया गया है । 'प्राणाय स्वाहा' इत्यादि तीन मन्त्रों के द्वारा तीन आहुतियाँ अश्ववध के पश्चात् अर्पित की जाती हैं[5] —

१. प्राणाय स्वाहा,

२. अपानाय स्वाहा,

३. व्यानाय स्वाहा ।

तत्पश्चात् राजा की पत्नियाँ परस्पर कहती हैं कि मुझे कोई पुरुष घोड़े के पास नहीं ले-जाता है ।

महीधर ने अम्बे, अम्बिके, अम्बालिके को तीन पत्नियों के नाम माना है ।[6] तदनुसार घोड़ा काम्पील देश की रहनेवाली सुन्दरी ईर्ष्याग्रस्त स्त्री (चौथी रानी)

---

१. ऋतवस्त ऋतुथा पर्व शमितारो विशासतु ।
संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः शम्यन्तु त्वा ।।
अर्धमासाः परूँषि ते मासा आच्छ्यन्तु शम्यन्तः ।
अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टं सूदयन्तु ते ।। —वा० सं० २३।४०,४१

२. द्यौस्ते पृथिव्यन्तरिक्षं वायुश्छिद्रं पृणातु ते ।
सूर्यस्ते नक्षत्रैः सह लोकं कृणोतु साधुया ।। —वा० सं० २३-४३

३. अश्व आदित्यत्वेन स्तूयते । (तु० श० ब्रा० १३।२।६।१—असौ वा आदित्यो ब्रध्नोऽरुषोऽमुनेवास्या आदित्यं—युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै ।)

४. युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि । (२३।५)

५. प्राणायेत्याद्यास्तिस्र आहुतीर्जुहोति······अश्वसंज्ञपनान्ते । (महीधर)

६. पत्न्यः परस्परं वदन्ति हे अम्बे, अम्बिके, अम्बालिके, नामान्येतानि । कश्चन नरो माम् अश्वं प्रति न प्रापयति ।

के साथ सो रहा है (मरा पड़ा है)। प्रश्न यह है कि यह सुन्दरी कहाँ से आ गई ? क्योंकि उसके घोड़े के साथ लेटने का विधान पहले किसी मन्त्र में नहीं बताया गया। अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका किनके नाम हैं—यह भी मन्त्र में स्पष्ट नहीं।

वस्तुत: इस मन्त्र की सम्यक् व्याख्या के लिए पूर्ववर्ती मन्त्रों का ध्यान रखना आवश्यक है जिनके अनुसार अश्व सूर्य है। इससे ठीक पूर्व के मन्त्र (२३।१७) में अग्नि, वायु, सूर्यरूपी पशुओं के द्वारा यज्ञ करने के उल्लेख द्वारा सृष्टियज्ञ का संकेत है। अत: यहाँ "प्राणाय स्वाहा" आदि मन्त्रों के द्वारा मृत अश्व को प्राणवान् बनाने जैसी निराधार कल्पना असम्भव है। इस मन्त्र में गृह्यसूत्रों में यज्ञ-विधि में उल्लिखित अग्नि, वायु और सूर्य के साथ प्राण, अपान, व्यान के सम्बन्ध को प्रतिपादित किया गया है।[1] ये अग्नि, वायु, सूर्य ही अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका (माता, पितामही, प्रपितामही) हैं जिनसे निवेदन करता है कि मुझे कोई परमात्मा या परमात्मज्ञान के निकट नहीं ले-जाता, मेरा अज्ञानरूपी अश्व=सूर्य, ज्ञान का प्रकाश, अत: कुत्सित अश्व=अज्ञान, मोहजाल फैलानीवाली, ऊपर से अच्छी लगनेवाली भौतिक सुखरूपी लक्ष्मी के पास सोया हुआ है।[2]

हरिशंकर जोशी ने अश्वमेध में विनियुक्त इस मन्त्र के प्रसंग में अश्व को चतुष्पाद ब्रह्म बताया है। तदनुसार "वही अश्वक पति है, उसी की चार पत्नियाँ हैं। चतुर्थ पत्नी सुभद्रिका काम्पीलवासिनी या भौतिक शरीरिणी है।......यह अश्वक नामक अग्नि से उत्पन्न ब्रह्म अब प्रथम आत्माओं—अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका में रत न रहकर उन्हें छोड़कर भौतिकात्ममयी सुभद्रिका के साथ सोता है अर्थात् आध्यात्मिकता से विरत है।......अत: उनका उलाहना है कि हमें कोई उस ब्रह्म के पास नहीं ले-जाता, सब भौतिकात्मा रूपी स्त्री के वशंगत हो गए हैं।[3]

अश्वमेध के प्रमाणरूप में अन्य मन्त्रों में से एक वह भी है जिसमें उव्वट, महीधर, सायण के अनुसार मारे गए घोड़े के अग्नि में पकाए जाते हुए शरीर अथवा उसके अवयव में से जो द्रव निकलकर नीचे गिरता है, उसके नीचे न गिरकर

---

१. प्राणाय, अपानाय, व्यानाय आभिराहुतिभिरश्वं प्रापवन्तं करोति। (महीधर)
२. कं सुखं पीलति बध्नाति गृह्णातीति कम्पील:, स्वार्थेऽण्प्रत्यये काम्पील: त वासयितुं शीलमस्यास्तां लक्ष्मीम्। (स्वा० दयानन्द) तु भावार्थ—धनस्य स्वभावोऽस्ति, यत्रेदं संचीयते तान् निद्रालूत् अलसान् कर्महीनान् करोति। अतो धनं प्राप्यापि पुरुषार्थ एव कर्त्तव्य:।
अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन।
ससस्त्यश्वक: सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्॥ —वा० सं० २३।१८
कुत्सिता सुभद्रा सुभद्रिका (महीधर)
३. वैदिक विश्वदर्शन, पृ० १९७

देवताओं के पास जाने की प्रार्थना की गई है।[1] परन्तु मरे हुए अश्व के अवयव के सुआ चुभोने पर अथवा अग्नि में पकाने पर अंग-रस के टपकने की बात काल्पनिक है, क्योंकि मरे हुए प्राणी के मांस में से इस प्रकार रस टपकना सम्भव ही नहीं है, अतः जिस द्रव के टपकने की बात मन्त्र में कही गई है वह सूर्यरूपी अग्नि में परिश्रान्त अथवा बहुत चले हुए प्राणी का पसीना हो सकता है। उसके लिए मन्त्र में प्रार्थना है कि वह निरुद्देश्य ही भूमि पर या घास पर न गिरे, अपितु वह उत्कृष्ट उद्देश्य के लिए, विद्वानों, **पूज्य**जनों के सत्कारार्थ, प्राकृतिक पदार्थों के ज्ञान तथा शिल्पादि में उनके समुचित प्रयोग के लिए अथवा इन्द्रियों के पोषण के लिए अर्पित हो।[2]

अश्वमेध में मन्त्र-विनियोग के प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि जब कर्मकाण्डीय भाष्यकार पौर्णमास याग में जिन गौओं का दूध निकाला जाना है, उनके बछड़ों के अपाकरण के लिए प्रयुक्त शाखा को काटने और उसके स्वच्छीकरण जैसी सूक्ष्म क्रियाओं के लिए पृथक्-पृथक् मन्त्रों का विनियोग करते हैं, तो अश्व-वध की क्रिया के लिए, तदर्थ शस्त्र हाथ में लेने के लिए और उसे काटने के लिए उन्हें कोई मन्त्र क्यों नहीं मिला ?

अश्वमेध के प्रसंग में उवट-महीधर द्वारा यह भी उल्लेख किया गया है कि वा० सं० २३।३३-३८ मन्त्रों के उच्चारण के साथ चारों राजपत्नियाँ मृत घोड़े के अंगों को लोहे, चाँदी और सोने की सूइयों से छेद-छेदकर जर्जर करती हैं जिससे कि त्वचा को सुविधापूर्वक काटकर घोड़े का मांस-चर्बी आदि आहुतियों के निमित्त निकाली जा सके। इस प्रसंग में केवल प्रथम मन्त्र पर विचार करना पर्याप्त है।[3] इस मन्त्र में गायत्री, त्रिष्टुप् आदि छन्दों का उल्लेख है। उवट-महीधर के अनुसार इसका भाव यह है कि रानियों द्वारा इन छन्दों के साथ चुभाई जाती हुई सूइयाँ तेरा संस्कार करें अर्थात् खड्ग के मार्ग के लिए त्वचा का भेदन करें।[4] मन्त्र में इस क्रिया

---

१. यत्ते गात्रादग्निना पच्यमानादभिशूलं निहतस्यावधावती।
मा तद्भूम्यामाश्रिषन्मा तृणेषु देवेभ्यस्तदुशद्भ्यो रातमस्तु॥
—ऋ० १।१६२।११, वा० सं० २५।३४

२. निहतस्य—निश्चयेन कृतश्रमस्य (मनुष्यस्य), नितरां चलितस्य (जनस्य)।
—स्वा० दयानन्द

३. गायत्री त्रिष्टुब् जगत्यनुष्टुप् पंक्त्या सह।
बृहत्युष्णिहा ककुप् सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥ —वा० सं० २३।३३

४. हे अश्व, गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, पंक्त्या-सह बृहती, उष्णिहा-सह ककुप् एतानि छन्दांसि सूचीभिरेताभिः त्वां शम्यन्तु संस्कुर्वन्तु। असिपथार्थं त्वग्भेदनं संस्कारः।

के लिए 'शम्यन्तु' शब्द आया है जिसका सीधा-स्पष्ट अर्थ "शान्त करें" है। छन्दों के साहचर्य में सूइयों द्वारा भेदन की अन्यथा संगति नहीं है। छन्द तो छादक हैं, रक्षक हैं; भेदक नहीं, अतः इन मन्त्रों की भावना यह प्रतीत होती है कि अमुक-अमुक छन्दवाले मन्त्र और उनमें वर्णित विचार तुझ मनुष्य को उसी प्रकार सीकर, मिलाकर आच्छादित अथवा सुरक्षित करें (या शान्त करें) जैसे सूई वस्त्रों को सीकर मिला देती है और आच्छादन योग्य बना देती है।[1]

इन मन्त्रों से अगले मन्त्र[2] द्वारा यह विधान माना जाता है कि इसका उच्चारण करते हुए चर्बी निकालने के लिए घोड़े का पेट काटा जाता है। तदनुसार उवट का अर्थ है—

"हे अश्व, प्रजापति तेरी त्वचा को काट रहा है। प्रजापति तेरी त्वचा को अलग कर रहा है। प्रजापति तेरे शरीरों (शरीर के अवयवों) को काटकर उन्हें हविरूप प्रदान कर रहा है और मेधावी प्रजापति ही तेरा काटनेवाला है। अथवा कः प्रश्नवाचक शब्द भी हो सकता है। तदनुसार "कौन काट रहा है?" इत्यादि प्रश्न होंगे। इन प्रश्नों का अभिप्राय यह है कि कोई भी व्यक्ति यह कार्य नहीं कर रहा।"[3] परन्तु यह बात स्पष्ट है कि अश्व को काटा ही जा रहा है। इसी प्रकार आगे के तीन मन्त्रों (२३।४०–४२) में भी ऋतुओं, वर्ष, पक्षों, मासों, रात-दिन दिव्य-अध्वर्युओं को भी अश्व के अंगों को काटनेवाले बताया है।

निस्सन्देह इन मन्त्रों में आच्छ्यति आदि रूप छेदनार्थक छो धातु से निष्पन्न होते हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि छेदन किसका अभिप्रेत है? इन मन्त्रों में घोड़े का उल्लेख नहीं है, अतः घोड़े के साथ इनका सम्बन्ध मन्त्रों के आधार पर संदिग्ध है। स्वामी दयानन्द के अनुसार यह क्रिया इन मन्त्रों में विद्यार्थी के अध्ययन में बाधा को व्यक्त करती है। इसकी पुष्टि इन्हीं मन्त्रों में विद्यमान विशास्ति (शासु अनुशिष्टौ) अर्थात् उपदेश करता है और शम्यति (शम उपशमे) अर्थात् ज्ञान के द्वारा

---

१. तु० स्वा० दयानन्द—ये विद्वांसो गायत्र्यादिच्छन्दोऽर्थविज्ञापनेन मनुष्यान् विदुषः कुर्वन्ति, सूच्याच्छिन्नं वस्त्रमिव भिन्नमतान्यनुसन्दधति, ऐकमत्ये स्थापयन्ति, ते जगत्कल्याणकारका भवन्ति।

२. कस्त्वाऽऽच्छ्यति कस्त्वा विशास्ति। कस्ते गात्राणि शम्यति। क उ ते शमिता कविः।—वा० सं० २३-३९

३. अश्वोदरं पाटयति मेदस उद्धरणाय।...हे अश्व, कः प्रजापतिः त्वामाच्छ्यति छिनत्ति। हे अश्व, कः प्रजापतिः त्वां विशास्ति त्वचा वियोजयति। कश्च प्रजापतिः ते शरीराणि शमनेन हविर्भावमापादयति। प्रजापतिरेव ते शमिता मेधावी क्रान्तदर्शनः। यद्वा प्रश्नरूपोऽयं मन्त्रः। कोऽयं मनुष्यस्त्वामाच्छ्यति, कश्च त्वां विशास्ति, न कश्चिदपीत्यभिप्रायः।

शान्त करता है जैसी क्रियाओं से होती है। प्रस्तुत मन्त्र के अनुसार विद्यार्थी से पूछा जाता है कि तेरे अध्ययन को कौन काटता है अर्थात् कौन बाधक होता है? कौन तुझे विशेष उपदेश देता है? कौन तेरे अवयवों को शान्त करता है? तुझे शान्तचित्त बनानेवाला क्रान्तदर्शी कौन-सा अध्यापक है?[१]

इससे अगले मन्त्र[२] में भी उवट ने वही विषय माना है और भाष्य किया है कि ऋतुएँ समय-समय पर वर्ष के तेज से कर्मों द्वारा तेरी हड्डियों के जोड़ों को काट-कर उनकी आहुतियाँ बनाएँ।[३] परन्तु यहाँ भी शास् धातु का अनुचित अर्थ ही मुख्य आधार बना है। वास्तव में मन्त्र में अभिलाषा व्यक्त की गई है कि हे विद्यार्थी, वसन्तादि ऋतुएँ अपने क्रम से तुम्हें उपदेश दें, अर्थात् भिन्न समयों में ऋतुओं की जो विशेषताएँ होती हैं उसी प्रकार तुझे जीवन के चारों आश्रमों में यथोचित व्यवहार करना चाहिए। परन्तु साथ ही वर्ष-भर प्राप्य जल के समान तू शान्त भी बना रह तथा अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्णधर्म का भी पालन कर।[४]

जैसे इस मन्त्र में ऋतुओं द्वारा अश्व के अवयवों को काटे जाने का उल्लेख उवट-महीधर ने किया है, उसी प्रकार अगले मन्त्र[५] में भी उनके अनुसार पक्षों और मासों से अश्व के जोड़े को काटने की, तथा रात-दिन और मरुतों से उसके कटे अंगों को जोड़ने की अभिलाषा व्यक्त की गई है।[६] यहाँ ध्यान देने की बात है कि ऋतुओं तथा अन्य कालावयवों का सम्बन्ध सूर्य से है। तदनुसार अश्व सूर्य भी हो सकता है। सूर्य द्वारा निर्मित काल का ये कालावयव विभाजन करते हैं। दूसरी ओर शिक्षा के

---

१. अध्यापका अध्येतॄन् प्रत्येकं परीक्षायां पृच्छेयुः। के युष्माकमध्ययनं छिन्दन्ति? के युष्मानध्ययनाय उपदिशन्ति? केऽङ्गानां शुद्धियोग्यां चेष्टां च ज्ञापयन्ति? कोऽध्यापकोऽस्ति? किमधीतम्, किमध्येतव्यमित्यादि पृष्ट्वा विद्यामुन्नयेयुः?

२. ऋतवस्त्वा ऋतुथा पर्व शमितारो विशासतु।
संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः शम्यन्तु त्वा॥ —वा० सं० २३।४०

३. ऋतवश्च तव शमितारः काले-काले पर्वणि संवत्सरस्य च तेजसा शमीभिः कर्मभिः शम्यन्तु शमनेन हविर्भावमापादयन्तु त्वाम्।

४. यथा ऋतवः पर्यायेण स्वानि-स्वानि लिंगान्यभिपद्यन्ते तथैव स्त्रीपुरुषाः पर्यायेण ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यासाश्रमान् कृत्वा ब्राह्मणब्राह्मण्यश्चाध्यापयेयुः। क्षत्रियाः प्रजा रक्षन्तु, वैश्याः कृष्यादिमुन्नयन्तु शूद्राश्चैतान् सेवन्ताम्।
—स्वामी दयानन्द, भावार्थ

५. अर्धमासाः परूंषि ते मासा आच्छ्यन्तु शम्यन्तः।
अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टं सूदयन्तु ते॥ —वा० सं० २३।४१

६. पक्षा मासाश्च तव परूंषि पर्वाणि आच्छिन्दन्तु। शम्यन्तः शमनेन हविर्भावमापादयन्तः। अहोरात्राणि मरुतश्च विलिष्टं दुःश्लिष्टं सूदयन्तु सन्दधन्तु।

प्रसंग में यह भाव भी हो सकता है कि समय के सभी अवयव निरन्तर विद्यार्थी का चरित्र निर्माण करते हुए "तेरे कठोर भाषणादि व्यवहार तथा अन्य किसी भी स्वल्प अवगुण को नष्ट करके उसे शान्त बना दें।"[1]

उवट-महीधर के अनुसार इससे अगले मन्त्र में[2] यह अभिलाषा व्यक्त की गई है कि अश्विन् आदि दिव्य अध्वर्यु घोड़े को और उसके अंगों को टुकड़ों (जोड़ों) में काटकर उन्हें हवि के योग्य मर्यादाओं में सीमित करें।[3]

सीधा भाव सूर्य के प्रसंग में यह है कि दिव्ययज्ञ सम्पादन करनेवाली प्राकृतिक शक्तियाँ ग्रह-नक्षत्र आदि सूर्य की ऊष्मा को यथोचित रूप से विभाजित करें और उसे अनुशासित करें। वे सूर्य द्वारा निर्मित सभी कालावयवों को सारी प्रजाओं के लिए उपयोगी बनाकर उन्हें शान्त करते हुए मर्यादित करें। शिक्षा के प्रसंग में महर्षि दयानन्द के अनुसार दिव्य अध्वर्यु विद्वान् अध्यापक और उपदेशक हैं, क्योंकि वे निरन्तर अहिंसक यज्ञ की इच्छा करते हैं। ये विद्यार्थियों के दुर्गुणों को नष्ट कर उन्हें विद्या प्राप्त कराएँ। ये वैद्यकशास्त्र की विधि से शरीर के अवयवों की परीक्षा करके उन्हें मर्यादित करके औषधों द्वारा शान्त करें।[4]

यह कितना हास्यास्पद है कि पहले घोड़े का वध कर, उसके अंग-प्रत्यंग को काटकर फिर उवट-महीधर अगले दो मन्त्रों[5] में स्वर्ग, पृथिवी, अन्तरिक्ष, सूर्य आदि के सम्मुख अभिलाषा व्यक्त करते हैं कि वे उसकी कमी (क्षति) को पूर्ण कर दें और

---

१. हे विद्यार्थिन्, अहोरात्राणि अर्धमासा मासाश्च आयूंषीव तव परूंषि कठोर-वचनानि शम्यन्तः शान्तिं प्रापयन्तः मरुतो दुर्व्यसनात् आ समन्तात् छ्यन्तु छिन्दन्तु। मरुतः मनुष्यास्ते विलिष्टमल्पमपि व्यसनं दूरीकारयन्तु।
—स्वा० दयानन्द

२. दैव्या अध्वर्यवस्त्वाच्छ्यन्तु वि च शासतु।
गात्राणि पर्वशस्ते सिमाः कृण्वन्तु शम्यन्तीः॥ —वा० सं० २३-४२

३. हे अश्व अश्विप्रभृतयो देवसम्बन्धिनोऽध्वर्यवः त्वामाच्छ्यन्तु आच्छिन्दन्तु विशासतु च। किं च गात्राणि पर्वशः तव सिमाः मर्यादाः कुर्वन्तु। शम्यन्तीः मर्यादादर्शनेन शमनं कुर्वाणाः।

४. विद्वत्सु कुशला आत्मनोऽहिंसाख्ययज्ञमिच्छन्तः अध्यापकोपदेशकातिथयो यदा बालकान् शिक्षयेयुस्तदा दुर्गुणान् विनाश्य विद्यां प्रापयेयुः। वैद्यकशास्त्ररीत्या शरीरावयवान् सम्यक् परीक्ष्यौषधानि प्रदद्युः॥ —भावार्थ

५. द्यौस्ते पृथिव्यन्तरिक्षं वायुश्छिद्रं पृणातु ते।
सूर्यस्ते नक्षत्रैः सह लोकं कृणोतु साधुया॥
शं ते परेभ्यो गात्रेभ्यः शमस्त्ववरेभ्यः।
शमस्थिभ्यो मज्जभ्यः शम्वस्तु तन्वै तव॥ —वा० सं० २३।४३-४४

उसे उत्तम लोक प्राप्त कराएँ। यह मिथ्या विश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साय ही उस घोड़े के कटे हुए सभी अंगों, अस्थि-मज्जा आदि के कल्याण की कामना की गई है।[1]

इनमें से प्रथम मन्त्र में सामान्य मनुष्यमात्र के लिए अभिलाषा व्यक्त की गई कि सभी प्राकृतिक शक्तियाँ उसके शरीर की सब प्रकार की न्यूनता को पूर्ण कर दें। स्वामी दयानन्द ने इसमें लुप्तोपमा मानकर इस अर्थ का विस्तार इस प्रकार किया है कि जैसे ये शक्तियाँ सुखप्रद हैं, उसी प्रकार अध्यापक और उपदेशक भी सबके चारित्रिक और इन्द्रिय-सम्बन्धी दोषों को दूर करके उन्हें सन्मार्ग में प्रवृत्त करें तथा उनमें विद्या का प्रकाश उत्पन्न करें।[2]

इसी प्रकार द्वितीय मन्त्र में भी अभिलाषा व्यक्त की गई है कि सब मनुष्यों के सब अंगों का कल्याण हो। अध्यापक और उपदेशक अपने उत्तम गुण, कर्म और स्वभाव से सबके लिए सुखकारक हों।[3]

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों में अश्व के वध का और उसके अंगों के काटे जाने का मिथ्या आरोप कर्मकाण्डीय परम्परा ने किया है। यहाँ शतपथ ब्राह्मण की इस उक्ति को भी विस्मृत कर दिया गया कि अश्व वीर्य है अथवा वीर्यवान् ब्रह्मचारी है।[4] एक अन्य स्थान पर अश्व को क्षत्र अथवा क्षात्र तेज या क्षत्रिय बताया गया है।[5] इससे यह स्पष्ट है कि अश्व वेद में सर्वत्र अश्व नामक पशु का वाचक न होकर अन्य तत्त्वों का वाचक भी है और उस पशु का वध वेद में अभीप्ट नहीं है।

---

१. द्यौः स्वर्गः पृथिवी अन्तरिक्षं लोकत्रयाभिमाननो देवाः अग्निवायुसूर्याः वायुरन्योऽपि प्राणादिः, हे अश्व तव छिद्रं पूरयन्तु, यत् न्यूनं तत् पूरयन्तु। किंच नक्षत्रयुक्तः सूर्यः तव समीचीनं लोकं करोतु।

हे अश्व, तव परेभ्योऽवयवेभ्यो उच्चेभ्यः शिरादिभ्यः सुखमस्तु। तवास्थिभ्यश्च सुखमस्तु। मज्जभ्यः पृष्ठधातुभ्योऽपि शमस्तु। किं बहुना, तव तन्वाः सर्वस्यापि शरीरस्य सुखमेवास्तु।

२. यथा पृथिव्यादयः सुखप्रदाः सूर्योदयप्रकाशकाः पदार्थाः सन्ति तथैवाध्यापका उपदेशकाश्च सर्वान् सन्मार्गस्थान् कृत्वा विद्याप्रकाशं जनयन्तु। —भावार्थ

३. हे विद्यामिच्छो, यथा पृथिव्यादितत्त्वं तव तन्वै शरीरस्य शम् सुखम् अस्तु, परेभ्यः गात्रेभ्यः शम्, अवरेभ्यः गात्रेभ्यश्च शमस्तु, अस्थिभ्यः मज्जभ्यः शमस्तु तथा स्वकीयैरुत्तमगुणकर्मस्वभावैः अध्यापकाः शंकरा भवन्तु।

४. वीर्यं वा अश्वः। —श० ब्रा० २।१।४।२३

५. क्षत्रं वा अश्वः। —श० ब्रा० १३।२।२।१५

जिन वेदों में यजमान के पशुओं की रक्षा की प्रार्थना की गई है[1], जिन वेदों में अनेक स्थानों पर पशुओं की हिंसा का निषेध है[2], जिन वेदों में गाय का नाम ही अघ्न्या अर्थात् हिंसा के अयोग्य, अहिंसनीय है, जिन वेदों में इहलोक और परलोक में भी गौओं की गुणोत्तर श्रेणी में वृद्धि की अभिलाषा की गई है[3] और जिन वेदों में पशुओं, विशेष रूप से गौ के घातक को मृत्युदण्ड देने, मृत्यु के पास पहुँचाने का, उसका सिर काट देने का विधान है[4], उन वेदों में पशुबलि का विधान असम्भव है।

परन्तु दूसरी ओर पशुहिंसा के समर्थक यह कह सकते हैं कि उपर्युक्त जिन सन्दर्भों में पशुहिंसा का निषेध है वह यज्ञ से बाहर सामान्य जनजीवन के प्रसंग में है। यज्ञों में तो हिंसा का विधान है ही और उस हिंसा को हिंसा नहीं माना जाता (वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति)। परन्तु ऐसे याज्ञिक स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि वेदों की प्रवृत्ति यज्ञ के लिए ही हुई है।[5] इस आधार पर वेदमन्त्रों में जो पशु-हिंसा-निषेध है वह यज्ञों के सन्दर्भ में भी किया गया सिद्ध होता है।

---

१. यजमानस्य पशून् पाहि। —वा० सं० १।१
पशूंस्त्रायेथाम्। —वा० सं० ६।११
द्विपादव चतुष्पात् पाहि। —१४।८
२. गां मा हिंसीरदितिं विराजम्। —वा० सं० १३।४३
मा गामनागामदितिं वधिष्ट। —ऋ० ८।१०१।१५
अश्वं जज्ञानं ……मा हिंसीः परमे व्योमन्। —वा० सं० १३।४२
अविं जज्ञानां……मा हिंसीः परमे व्योमन्। —वही, ४४
इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम् (पुरुषम्)। —वही, ४७
इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु। —वही, ४८
३. इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च, शतं च शतं च, सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिंल्लोके।
—वा० सं० १७।२
४. अन्तकाय गोघातम्। —वा० सं० ३०।१८
यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥ —अथर्व० १।१६।४
यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
योऽघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥
—ऋ० १०।८७।१६
५. वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृताः। —वेदांगज्योतिष के अन्त में
आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्। —मीमांसा १।२।१

निम्नलिखित मन्त्र में सृष्टिरूपी यज्ञ का व्यापक रूप वर्णित है—

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ।। (वा० सं० २३।६२) यह यज्ञवेदि पृथिवी की अन्तिम सीमा है। यह यज्ञ सारे संसार की नाभि अथवा केन्द्र है। यह सोम-(वृष्टिजल) वर्षक अश्व (सूर्य) का रेतस् (वीर्य-सार) है और यह ब्रह्म-(वेद) वाणी का परम (सर्वोच्च) आकाश (विस्तार) है।

यज्ञ त्याग की उदात्त भावना है, जिसपर सारी सृष्टि टिकी है। हम प्रार्थना करते हैं कि हमारी आयु, प्राण, नेत्र-कर्णादि इन्द्रियाँ और पीठ अर्थात् रीढ़ या शरीर के नाड़ी-तन्त्र का आधार यज्ञ से अर्चना करके समर्पण में अपना सामर्थ्य सिद्ध करें—

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन
कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पताम् ।।

—वा० सं० ९।२१

इस प्रार्थना की चरम सीमा यज्ञ-भावना का इतना विस्तार है कि स्वयं यज्ञ को स्वार्थरहित त्याग-भावना से युक्त कर समर्पण की अभिलाषा व्यक्त की गई है—यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। (वा० सं० ९।११)

यज्ञ की इस उदात्त भावना में पशुबलि के लिए कोई स्थान नहीं है। विद्वानों का यह मन्तव्य है कि मांसभक्षण का प्रचलन था, अतः आराध्य को भी मांस की आहुति देना युक्तिसंगत है, परन्तु उन विद्वानों को कौषीतकि ब्राह्मण (११.३) का यह वचन ध्यान में रखना चाहिए—तद्यथा ह वा अस्मिल्लोके मनुष्याः पशूनश्नन्ति यथैभिर्भुंजते। एवमेवामुष्मिल्लोके पशवो मनुष्यानश्नन्ति एवमेभिर्भुंजते।" जैसे इस लोक में मनुष्य पशुओं को खाते हैं, उसी प्रकार उस लोक में पशु मनुष्यों को खाते हैं।।

यस्ते अप्सु महिमा यो वनेषु य ओषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः।
अग्ने सर्वास्तन्वः सं रभस्व ताभिर्न एहि द्रविणोदा अजस्रः ।।

—अथर्व० १९।३।२

हे ईश्वर, आपकी जो महिमा जल में, वनों में, ओषधियों में और पशुओं में है, आप (उसके द्वारा) सभी शरीरों को मिलाइए (किसी की क्षति न कीजिए) और निरन्तर धन देनेवाले आप हमें प्राप्त होइए।

□

वैद्य श्री रामगोपाल शास्त्री स्मारक समिति

पीयूषपाणि वैद्य रामगोपाल शास्त्री उन गण्यमान व्यक्तियों में से थे जिनका सारा जीवन वैदिक वाङ्मय के अध्ययन, अध्यापन तथा अनुसन्धान को समर्पित रहा। चिरकाल तक डी० ए० वी० कालिज लाहौर के शोध विभाग में पं० श्री भगवद्दत्तजी के साथ अनुसन्धानकार्य करने के पश्चात् शास्त्रीजी दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय के उपाचार्य नियुक्त हुए। लाहौर में रहते हुए आप सामयिक राजनीति में सक्रिय भाग लेते रहे। कुछ समय पश्चात् आपने विद्यालय से त्यागपत्र दे दिया और चिकित्सा-कार्य में प्रवृत्त हुए। जल्दी ही आप एक कुशल चिकित्सक के रूप में विख्यात हो गये, किन्तु अपना स्वतन्त्र व्यवसाय करते हुए भी आप अनुसन्धान-कार्य में यथापूर्व संलग्न रहे।

भारतविभाजन के पश्चात् आप दिल्ली आ गये और क़रौलबाग में रहकर चिकित्सा-कार्य करने लगे। आयुर्वेद में आपकी विशेष योग्यता के कारण उत्तर प्रदेश सरकार ने आपको सम्मानित किया। वैद्यजी मृत्युपर्यन्त रामलालकपूर ट्रस्ट के अध्यक्ष रहे। सन् १९७० में शास्त्रीजी ने आर्यसमाज क़रौलबाग के तत्त्वावधान में वेदगोष्ठी का प्रारम्भ किया। उनके जीवनकाल में निरन्तर सात वर्ष तक वेद-गोष्ठियों का आयोजन होता रहा जिनमें आर्यजगत् के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने विभिन्न विषयों पर अपने निबन्ध प्रस्तुत किये। ९ जून १९७४ को हृदयगति रुक जाने से ८४ वर्ष की अवस्था में शास्त्रीजी के यशस्वी जीवन का अन्त हो गया।

पुण्यश्लोक वैद्यजी की स्मृति को चिरस्थायी बनाने और उनकी भावना के अनुरूप वेदगोष्ठियों का क्रम चालू रखने के लिए आर्य-समाज करौलबाग के अन्तर्गत वैद्य श्री रामगोपाल शास्त्री स्मारक समिति की स्थापना की गई। स्थापनाकाल से सन् १९८२ तक

वैदिक विद्वान् तथा सुप्रसिद्ध आर्यनेता प्रोफ़ेसर रामसिंहजी इस समिति के अध्यक्ष रहे। वर्त्तमान में स्वामी विद्यानन्द सरस्वती की अध्यक्षता में समिति अपना कार्य कर रही है।

समिति का एकमात्र उद्देश्य 'विदेशीय तथा स्वदेशीय' तथाकथित विद्वानों द्वारा किये गये वेदसम्बन्धी अनर्गल और निराधार आक्षेपों तथा भ्रान्तियों का युक्तियुक्त सप्रमाण समाधान करना है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए समिति ने अपनी गतिविधियों का केन्द्र दिल्ली विश्वविद्यालय तथा उससे सम्बद्ध कालिजों को बनाया है; क्योंकि वेदों के वास्तविक स्वरूप को विकृतरूप में प्रस्तुत करने का कार्य सबसे अधिक वहीं होता है।

अब तक इन गोष्ठियों में सर्वश्री वैद्य रामगोपालजी शास्त्री, वैद्य गुरुदत्तजी, आचार्य जगदीशचन्द्रजी, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, आचार्य उदयवीर शास्त्री, स्वामी धर्मानन्द सरस्वती, डा० रामनाथ वेदालंकार, डा० श्रीनिवास शास्त्री, डा० कपिलदेव शास्त्री, आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री, आचार्य विशुद्धानन्द शास्त्री, आचार्या प्रज्ञादेवी, डा० फ़तहसिंह तथा डा० कृष्णलालजी विभिन्न विषयों पर अपने निबन्ध प्रस्तुत कर चुके हैं।

समिति की ओर से प्रत्येक निबन्धवाचक को मार्गव्यय के अतिरिक्त पाँच सौ रुपये की उपहार राशि, शाल और नारियल से सम्मानित किया जाता है। इन समस्त गतिविधियों में सर्वाधिक सहयोग आर्यसमाज क़रौलबाग का रहता है।